प्रगतिवादी आलोचनात्मक प्रतिमानों का विकासात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0 फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
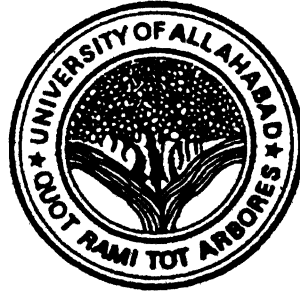
निर्देशिका निर्मला अग्रवाल

डॉ० निर्मला अग्रवाल
भूतपूर्व रीडर—हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्ता विजय बहादुर

विजय बहादुर त्रिपाठी
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2002

शोध–पत्र

विषय–प्रगतिवादी आलोचनात्मक प्रतिमानों का विकासात्मक अध्ययन

निर्देशिका

डा० निर्मला अग्रवाल
भू०पूर्व० रीडर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

शोधकर्त्ता

विजय बहादुर त्रिपाठी
शोध छात्र – हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

भूमिका

युग परिवर्तन या विशेष साहित्य आन्दोलन पर जो भी आलोचनात्मक कृतियॉ उपलब्ध है, उनमे युग विशेष मे निर्दिष्ट सामान्य लक्षण की झलक तो प्राप्त हो जाती है, परन्तु युग विशेष मे दो विपरीत धाराओ का द्वन्द्व और उस द्वन्द्व से साहित्य के नये प्रतिमानो के विकास का विवेचन प्राय दुर्लभ है। शायद यही इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन का प्रस्थान विन्दु है। हमने अपने शोध–प्रबन्ध 'प्रगतिवादी आलोचनात्मक प्रतिमानो का विकासात्मक अध्ययन' के अन्तर्गत प्रगतिवाद का प्रारम्भ और प्रगतिवाद के मूल मे प्रवाहित दो धाराओ की छानबीन के साथ प्रगतिवादी साहित्य के दार्शनिक तत्वो का विवेचन और प्रगतिवाद तथा समाजशास्त्रीय आलोचना के सम्बन्ध पर भी चर्चा की है।

शोधपरक अनुशीलन की परिपूर्णता इस बात मे है कि प्रगतिवाद के साथ–साथ आलोचनात्मक प्रतिमानो के विकास को भी सक्षेप मे समझाने का प्रयत्न किया गया है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे आधुनिक काल खण्ड को सामान्य लक्षणो और प्रवृत्तियो के वर्णन तक ही सीमित रखा है। सम्भवत इसका कारण यह हो सकता है कि युग विशेष मे अन्तर्विरोधो की पहचान न होने के कारण इतिहास के वस्तुगत प्रक्रिया के विकास की पहचान होना भी असम्भव हो जाता है , और यह जानना भी कठिन हो जाता है कि अमुक प्रवृत्तियो का प्राबल्य क्यो दिखाई देता है? वे कौन से कारण है कि हरिवश राय बच्चन का हालावाद कोई साहित्यक आन्दोलन खडा नही कर सका, जबकि लदन से आये भारतीय मार्क्सवादी बुद्धिजीवियो ने प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना के साथ ही प्रेमचन्द, प्रसाद, पत, निराला, जाफरी,

जोश, आचार्य नरेन्द्र देव, राहुल साकृत्यायन, भगवती चरण उपाध्याय आदि का समर्थन प्राप्त कर प्रगतिवाद को एक विशेष साहित्यिक आन्दोलन के रूप मे हिन्दी साहित्य के इतिहास मे स्थान दिला दिया। अकारण पिष्टपेषण से बचने के लिये हमने प्रगतिवाद के उद्भव के कारणो की चर्चा भर की है, इनके स्थान पर प्रगतिवाद के विकास के पीछे छुपे दार्शनिक कारणो को उभारने का प्रयत्न किया है।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत प्रगतिवाद के प्रारम्भ के कारणो पर चर्चा की गई है और साथ ही साथ प्रगतिवाद और प्रगतिशील का भेद भी समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय मे प्रगतिवाद के उदय का ऐतिहासिक साक्ष्य भी प्रस्तुत किया गया है। प्रगतिवादी रचनाकारो का नारी के प्रति दृष्टिकोण क्या है? क्या प्रगतिवाद के भारत मे आने से नारी की स्थितियो मे कुछ परिवर्तन हुआ की नही, इसकी भी चर्चा की गई है। कथा साहित्य मे प्रगतिवाद किस प्रकार आगे बढा और प्रगतिवादी आलोचना का विकास किस प्रकार हुआ इसे सक्षेप मे देखा और परखा गया हे। अन्त मे प्रगतिशील लेखक सघ के सातो अधिवेशनो के घोषणापत्रो का साराश भी प्रस्तुत है जिससे प्रगतिवाद के विकास को समझने मे सहायता मिलती है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का द्वितीय अध्ययन, 'मार्क्सवाद और प्रगतिवाद' है, जिसमे मार्क्स के सिद्धान्तो की सक्षिप्त चर्चा की गयी है, यथा—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद आदि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के कला व साहित्य विषयक मान्यताओ का मूल स्तम्भ है। मनुष्य और प्रकृति की क्रिया—कलापो को समझने का मार्क्सवादी दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। जबकि ऐतिहासिक भौतिकवाद के अन्तर्गत सामाजिक परिवर्तनो और राजनीतिक क्रातिया का कारण दार्शनिक न हो कर उस युग की आर्थिक परिस्थितियो को माना गया है। मार्क्स के

सिद्धान्तो से प्रगतिवाद कहाँ तक प्रभावित हुआ है और साहित्य के क्षेत्र मे प्रगतिवाद का विकास किस प्रकार हुआ इसे व्याख्यायित किया गया है।

शोध–प्रबन्ध का तृतीय अध्याय 'प्रगतिवाद और समाजशास्त्रीय आलोचना' है। इसके अन्तर्गत सर्व प्रथम आलोचना और समाजशास्त्र के अन्त सम्बन्धो पर दृष्टिपात किया गया है। तत्पश्चात् समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति की विशेषताये बतायी गई है। समाजशास्त्री आलोचना का प्रारम्भ और विकास की चर्चा के पश्चात साहित्य की समाज शास्त्रीय आलोचना के रूपो की चर्चा हुई है और साथ ही साहित्य मे उनका विकास किस प्रकार हुआ है। इसे व्याख्यायित किया गया है।

प्रस्तुत–शोध प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय 'आलोचनात्मक प्रतिमानो का विकास' है, जिसके अन्तर्गत नये काव्य प्रतिमानो की चर्चा पहले करते हुए, आलोचना के प्रतिमानो की स्थापना किस प्रकार होती है, यह व्याख्यायित किया गया है, क्योकि आलोचना सर्वदा समकालीन साहित्य के समानान्तर चलती रहती है। वह अपने समसामयिक साहित्य से निर्धारित व विकसित होती है। जो आलोचना अपने युग के साहित्य से बॅध कर नही चलती वह अन्त मे मूल्यहीन हो कर विनष्ट हो जाती है। आगे आलोचना के विकास की पृष्ठिभूमि को सक्षेप मे प्रस्तुत कर भारतेन्दु युगीन आलोचना, तथा द्विवेदी युगीन आलोचना का परिचय दिया गया है। ओर छायावादी दोर की आलोचना की छानवीन करते हुए प्रगतिवादी दौर मे प्रवेश किया गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की आलोचनात्मक प्रवृत्तियो के विकास को भी देखा, परखा गया है।

शोध प्रबन्ध का अन्तिम अध्याय 'प्रगतिशील आलोचना के नये प्रतिमान' है जिसमे प्रगतिवाद के अन्दर पनप रही दो विपरीत धाराओ को सक्षेप मे समझाने का प्रयत्न किया गया है। परम्परा व साहित्यिक विरासत का मूल्याकन करने के साथ ही

समाजवादी यथार्थवाद और यौन नैतिकता की चर्चा भी की गयी है। इस प्रकार प्रगतिशील आलोचना के नये प्रतिमानो का उद्घाटन किया गया है।

आज इस अनुष्ठान की पूर्णाहुति करते हुऐ मेरा मन विभिन्न महानुभावो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने को आतुर है। इस महत्कार्य के प्रेरक तत्कालीन हिन्दी विभाग के प्रो० सत्यप्रकाश मिश्र जी है तथा हमारे प्रोत्साहक वर्तमान हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र कुमार जी रहे है। उक्त गुरूद्वय का मै हृदय से आभारी हूँ। मै अपने हिन्दी विभाग के गुरूजनो के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिनके आशीर्वाद के बिना यह कार्य पूर्ण नही हो सकता था।

परम श्रद्धेया डा० निर्मला अग्रवाल जी इस अनुष्ठान की सर्वाधिक महत्त्वभागी है। जिनके वैदुष्यपूर्ण निर्देशन, स्नेहसिक्त अन्त प्रेरणा एव हृदयगत आशीर्वाद का प्रतिफलन ही यह शोध–प्रबन्ध है। श्रद्धेया डा० अग्रवाल के निर्देशन, अनुकम्पा एव आशीर्वाद के लिए मेरे पास शब्द नही है अत मै मात्र उनके चरणो मे अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

मेरे जीवनानुभव एव प्रेरणा के श्रोत पितृ तुल्य मेरे अग्रज श्री स्वराज भूषण त्रिपाठी (बेसिक शिक्षा अधिकारी) रहे है एव आदरणीया भाभी श्रीमती अनीता त्रिपाठी से मुझे बराबर जो सद्भाव एव स्नेहमय सहायता मिली है, उसके लिये मै उनका कृतज्ञ हूँ। मेरी बहन कुमारी गीता त्रिपाठी ने मुझे समय–समय पर सुझाव व सहायता देकर उपकृत किया है, अत उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ मेरे अनुज श्री अजय कुमार त्रिपाठी ने मुझे यथार्थ बोध मे सहायता दी है, इसलिए वे आर्शीवाद के पात्र है। हमारे भाजे श्री सजय कुमार पाण्डेय ने वर्तनी सुधार मे मेरी मदद की है अत वे आशीर्वाद के पात्र है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की अधीक्षिका श्रीमती

साधना चतुर्वेदी के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिनकी सहायता के विना यह सिद्धि अधूरी थी। मै इस पूर्णाहुति मे अपने माता–पिता का मात्र स्मरण करना चाहता हूँ, जिनसे उऋण होना सभव ही नही है और अन्त मे मै उन ज्ञात–अज्ञात सभी विद्वानो के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके ज्ञान निधि का उपयोग मैने अपने शोध–प्रबन्ध मे किया है अथवा उनके सद्विचारो से मेरे मन मे विचारोत्तेजना प्राप्त हुई है।

विजय बहादुर त्रिपाठी

दिनाक 23 दिसम्बर 2002

विजय बहादुर त्रिपाठी
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहावाद

प्रथम-अध्याय

प्रगतिवाद क्या है

प्रगतिवाद क्या है?

औपनिवेशिक शोषण और सामन्ती जुए के नीचे कराहती भारती जनता सन् 1930 के बाद सघर्ष के जिस दौर से गुजर रही थी, उसमे प्रगतिशील बुद्धि जीवियो का सगठित होना स्वाभाविक था। लेखक गण को सगठित करने का प्रयास हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से भी हो रहा था। प्रगतिशील लेखक सघ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अतिरिक्त आगे चलकर 'परिमल' नामक एक साहित्यिक सगोष्ठी के मच पर भी लेखको को सगठित किया गया। छायावादोत्तर युग मे इन तीनो लेखकीय सगठनो के परस्पर सघर्ष की पृष्ठिभूमि मे तत्कालीन सृजनात्मक सहित्य के भीतर प्रगतिशील और प्रतिगामी विचारात्मक रूझानो को समझने मे मदद मिलती है।

स्वतन्त्रता और स्वशासन की मॉगो ने सन् 1936 मे अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना की। इन्ही मागो ने सास्कृतिक व बौद्धिक स्तर पर, ऐतिहासिक कार्यभार की पूर्ति के लिये, प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना की गयी।

1929 के साहित्य सम्मेलन के पदाधिकारियो के चुनाव मे नयी पीढी के प्रतिनिधियो की विजय हुई और गणेश शकर विद्यार्थी अध्यक्ष एव रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी प्रचार मत्री चुने गये। इसी वर्ष भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये प० जवाहर लाल नेहरू का चुनाव हुआ, इस प्रकार साहित्य तथा राजनीतिक मच रो पुरातनपथी लोग हटा दिये गये। निराला जी ने इस परिवर्तन का पूरे उत्साह से स्वागत किया।

दुर्भाग्यवश श्री गणेश शकर विद्यार्थी सहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर बहुत अधिक दिन नही रह पाये, क्योकि कानपुर के एक सप्रदायिक दगे मे उनकी हत्या कर दी गयी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध स्वाधीनता सघर्ष, लेखको के जनवादी

अधिकारो का दमन, और अभिव्यक्ति की आजादी की समस्या, हिन्दू पुनरुत्थानवाद के बजाय जनवादी राष्ट्रीयता, हिन्दी साम्राज्यवाद की आकाक्षा के विरूद्ध सभी भारतीय भाषाओ और बोलियो को आजादी, हिन्दी लेखको के सगठन के बजाय अखिल भारतीय स्तर पर सभी भारतीय भाषाओ की पारस्परिकता का सम्बन्ध और अखिल भारतीय सर्वभाषा लेखको के सगठनो के बजाय अखिल भारतीय स्तर पर सभी भारतीय भाषाओ की पारस्परिकता का सम्बन्ध और अखिल भारतीय सर्वभाषा लेखक सगठन ये सब कुछ ऐसे प्रश्न थे जिनसे न केवल प्रेमचन्द बल्कि उस समय के तमाम प्रबुद्ध नेता, बुद्धिजीवी, पत्रकार और लेखक जूझ रहे थे।

हिन्दुस्तान की सभी भाषाओ के साहित्य की एकता के सवाल को केन्द्रिय सवाल बना कर 1935 के अप्रील महीने मे साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन इदौर मे होने जा रहा था। मुशी प्रेम चन्द चाह कर भी वहा नही पहुच पाये। कन्हैयालाल मणिक लाल मुशी ने उस अधिवेशन के फैसले की सूचना देते हुए प्रेम चन्द जी को यह सदेश भेजा कि जैनेन्द्र कुमार के प्रयास से तथा गाधी जी के सहयोग से अर्न्तप्रान्तीय परिषद बुलाने का निर्णय हुआ है। 'हस' को लोग उसका मुख्य पत्र बनाना चाहते है। उस पत्र का प्रेम चन्द ने स्वागत किया। अत 1935 मे 'हस' 'भारतीय साहित्य परिषद' के मुख पत्र के रूप मे निकलने लगा।

एक ओर भारत मे प्रेमचन्द जी के नेतृत्व मे लेखको को सगठित करने तथा भारतीय भाषाओ की एकता तथा अन्त सम्बन्धो की दिशा मे बढने का प्रयत्न आदि हो रहे थे, तो दूसरी ओर सोवियत सघ मे मैक्सिम गोर्की के नेतृत्व मे 1934 मे 'सोवियत लेखक सघ' का गठन हुआ। सोवियत लेखक सघ के अधिवेशन के अवसर पर रोमारोला, आद्रे जीद, हेनरी बारबूज, जार्ज वर्नाडशा आदि ने बधाइया और समर्थन के सदेश भेजे।

लेखको को सगठित करने का एक ऐसा ही व्यापक प्रयत्न जुलाई 1935 मे

हेनरी बारबूज के नेतृत्व मे पेरिस मे हुआ। सस्कृति की रक्षा के लिये विश्व लेखक अधिवेशन जुलाई महीने मे पेरिस मे बुलाया गया। इस अधिवेशन के सयोजको मे मैक्सिम गोर्की, रोमारोला, आद्रेमालरो, टामस मान, वाल्डे फ्रैक जैसे विश्वविख्यात साहित्यकार थे। सज्जात जहीर के हवाले से यह ज्ञात होता है कि इस अधिवेशन ने फासिज्म के विरोध मे उत्पीडित राष्ट्र के शोषित जनगण के समर्थन मे एव विचार स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये लेखको की आवाज बुलद की।[1] इस अधिवेशन मे सारी दुनिया मे प्रगतिशील लेखको की एक स्थायी समिति चुन ली गयी। जिसके अध्यक्ष अग्रेजी के कथाकार ई०एम० फॉस्टर बनाये गये और उनका केन्द्रीय कार्यालय पेरिस मे खोला गया।

इसी समय 1935 मे ही लदन के प्रवासी भारतीयो मे से कुछ समाजवादी विचारधारा के बुद्धिजीवियो ने लदन के एक चीनी रेस्तरा के तहखाने मे अपनी बैठक कर 'भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ' की स्थापना की, जिसमे मुल्कराज आनन्द को अध्यक्ष एव सज्जाद जहीर को सचिव चुना गया। इस बैठक मे एक घोषणा पत्र तैयार किया गया, तथा इसे भारत भेज कर सभी सपादको तथा लेखको को उपलब्ध कराया गया।

प्रेमचन्द जी दुनिया की प्रगतिशीलता से पूरी तरह अवगत थे, अत उन्होने, 'प्रगतिशील लेखक सघ' का स्वागत किया और अपने पत्र 'हस' के माध्यम से इन लेखको के उद्देश्यो को प्रचारित भी किया। लखनऊ मे होने वाले प्रगतिशील लेखक सघ के पहले अधिवेशन 1936 मे सभापति आसन से बोलते हुए उन्होने कहा– "प्रगतिशील लेखक सघ' यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावत प्रगतिशील होता है अगर यह उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता"[2]

---

1 'हस' जनवरी 1948– वे दिन जो बीत चुके है। प्रगतिवाद और समनान्तर साहित्य–पृ०–8 से उद्धृत।

2 साहित्य का उद्देश्य – प्रेमचन्द्र – हस प्रकाशन, इलाहाबाद – प्र०स०– 16–17

जैसा कि प्राय यह धारणा विकसित है कि लदन मे प्र०ले०स० स्थापित करने का निर्णय हुआ और उसे हिन्दुस्तान मे लागू कर दिया गया, परन्तु ऐसा नही हुआ, प्राय यह प्रक्रिया इतनी सरल नही है, जितनी समझी जाती है। यह धारणा भी प्राय मिथ्या है कि भारत मे प्रगतिशीलता प्राय पश्चिम से आयातित है, यद्यपि विश्व स्तर पर हो रहे परिवर्तनो से भारत अछूता नही था, तथा वैचारिक स्तर पर व सामाजिक स्तर पर भारत भूमि मे भी प्रगति के तत्व विद्यमान थे, इस प्रकार प्रगतिवाद के विकास के लिये प्रेमचन्द व उनका पत्र 'हस' पूरी तरह उर्वर सामग्री प्रदान कर रहा था, वस्तुत मुल्कराज आनन्द व सज्जात जहीर मूलत पेरिस मास्को व लदन की गतिविधियो व हलचलो का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जबकि प्रेमचन्द भारतीय परिदृश्य का नेतृत्व कर रहे थे। प्रेमचन्द जी का उद्देश्य साहित्य मे नवयुग लाने का था, जिसमे 'हस' सगठनकर्ता का कार्य कर रहा था, लदन के प्रगतिशील लेखक सघ के सगठन का घोषणा पत्र हस मे प्रकाशित करते हुए प्रेमचन्द जी ने साथ–साथ अपनी टिप्पणी भी दी।

"हमे यह जानकर सच्चा आनन्द हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवको मे भी साहित्य मे एक नयी स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गयी है। लदन मे 'दि इन्डियन प्रोग्रेसिव राइटर्स एशोसियेशन' की इस उद्देश्य से बुनियाद डाली गयी है और उसने जो अपना मैनिफेस्टो भेजा है, उसे देखकर यह आशा होती है कि अगर यह सभा अपने इस नये मार्ग पर जमी रही तो साहित्य मे नवयुग का उदय होगा।"[1]

डॉ० शिवदान सिह चौहान के हवाले से यह पता चलता है कि सज्जाद जहीर के भारत वापस आ जाने पर दिसम्बर 1935 के अन्तिम दिनो मे ही इलाहाबाद मे 'भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ' का गठन कर लिया गया था और इसके ड्राफ्ट

---

[1] हस– जनवरी 1936– प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य–रेखा अवस्थी– पृ०– 9 से उद्धृत।

मैनिफेस्टो पर निराला व पत ने भी हस्ताक्षर किये थे।[1] और प्र०ले० स० को प्रारम्भ मे ही टैगोर, नेहरू, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव आदि के सहयोग का आश्वासन प्राप्त हो गया था।

प्रगतिवाद व प्रगतिशीलता को लेकर प्राय विद्वानो मे वाद विवाद होता रहा है, कुछ विद्वान प्रगतिवाद व प्रगतिशील मे भेद मानते हैं जबकि कुछ विद्वान प्रगतिवाद व प्रगतिशील को एक शिक्के के दो पहलू कहते है। डा० शिवदान सिह चौहान प्रगतिवाद और प्रगतिशील मे भेद मानते है। वे 'वाद' को समाजवादी यथार्थवाद का दृष्टिकोण और 'शील' को व्यापक यथार्थवादी धारा का प्रतिनिधि बताते है। उनके शब्दो मे– प्रगतिवाद और प्रगतिशील मे भेद है यह स्पष्ट होना ही चाहिए"। इस अन्तर का कारण यह है कि प्रगतिवाद को सौन्दर्य शास्त्र (एस्थेटिक्स) सम्बन्धी मार्क्सवादी दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण समझना चाहिए।[2] जबकि प्रगतिशील कविता के पीछे किसी विशेष दार्शनिकवाद की मान्यता का आग्रह नही किया जा सकता। एक प्रगतिशील कवि गाधीवादी भी हो सकता है, मार्क्सवादी भी हो सकता है और द्वैत–अद्वैतवादी भी। प्रगतिवाद और प्रगतिशील मे इस अन्तर का कारण है दोनो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि। प्रगतिवाद वर्तमान मजदूर, किसान व निम्न वर्ग, निम्न श्रेणी के टुटपुजियो का साहित्य है जबकी प्रगतिशील साहित्य चिरजीवी, प्राणवान साहित्य की प्रवाहमान सास्कृतिक विरासत है। चौहान जी मानते है कि दोनो का विकास जरूरी हैं लेकिन दोनो के विकास की पद्धतियॉ भिन्न है। प्रगतिशील तो चिरजीवी और सर्व समावेशी साहित्य धारा है इसी लिये इसका विकास स्वत स्फूर्त ढग से होता चलता है। क्योकि कलाकार स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है। प्रगतिवाद चूॅकी पूजीवाद के अन्तिम काल मे उत्पन्न होने वाला साहित्य है और भारत मे पूजीवाद के उदयकाल मे ही उत्पन्न हो गया, इस लिये उसके विकास के लिये सगठित प्रयत्न की आवश्यकता

---

1 आलोचना अप्रैल–जून 1970–प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य– पृ०स०–9 से लिया गया।

2 प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य मूल्य– डा० अजय तिवारी प्रथम सस्करण–पृ०स०–303 से लिया गया।

है। डा० चौहान जी ने कहा है कि प्रगतिशील लेखक सघ का नया नाम 'मार्क्सवादी लेखक सघ' के रूप मे पुनर्गणन जरूरी है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रगतिवादी प्रगतिशील होता है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक प्रगतिशील प्रगतिवादी भी हो। किसी प्रगतिशील विचारक को बादो मे बधने की आवश्यकता नही होता।

जनेश्वर वर्मा जी प्रगतिवाद का विकास प्राय 1936 से नही मानते, इसके पीछे वे तर्क देते है कि प्रगतिवादी का प्रारम्भ प्राय रूसी क्रान्ति (1917) से प्रारम्भ हुआ, और वेभारत मे प्रगतिवाद के पुरोधा गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' को मानते है। क्योकी उनकी रचनाये प्राय 1918 से 30 के मध्य की है। वे छायावाद को प्राय एकागी व पलायनवादी प्रवृत्ति का काव्य मानते है और प्रगतिवाद तथा छायावाद के समनान्तर विकास की दलील देते है जो प्राय हमे अवैज्ञानि प्रतीत होती है।

जहा एक ओर इतिहास को तोड मरोड कर डा० जनेश्वर वर्मा जी प्रगतिवाद का आरम्भ 1918 से मानते है, वही दूसरी ओर उनसे ठीक उल्टी दिशा मे चलते हुए डा० रागेय राघव की मान्यता है कि 1936 मे प्रगतिशील आन्दोलन विदेश से ला कर हिन्दी मे रोप दिया गया। किन्तु यह मत दुर्भाग्यपूर्ण है तथा एक विचित्र ऐतिहासिक समझ का द्योतक है। राष्ट्रप्रेम के छद्म के साथ अध कम्युनिस्ट विरोध की चिरपरिचित तर्क पद्धति यहा की मौजूद है। डा० धर्मवीर भारतीय ने भी लगभग इसी शताब्दी मे यह आरोप लगाया कि– यहा प्रगतिवाद का प्रवेश तब हुआ जब विदेशो मे उसका दिवाला पिट चुका था। विदेशो की इस उतरन को हमने दौड कर बडे चाव से पहन लिया, जबकि हमारे अपने साहित्य मे किसी भी प्रगतिवाद से सौ गुनी शक्तिशाली प्रवृत्तिया पनप रही थी।[1]

इतिहास व्यक्तियो की इच्छा से स्वतन्त्र होता है। प्रगतिशीलता की भावना का

---

1 धर्मवीर भारतीय– प्रगतिवाद एक समीक्षा– प्रथम स० 1949– पृ०–14

उद्भव हिन्दुस्तान की अपनी परिस्थितियो, जनआन्दोलनो, ब्रिटिश हुकूमत की औपनिवेशिक शोषण, समाजवादी विचार धारा के तेजी से प्रसार, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के हनन की प्रतिक्रिया आदि कारणो से हुआ।

1929 के वाद भारतीय समाज मे जनता की आत्मगत चेतना मे क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे थे। भारतेन्दु कालीन यथार्थवादी रूझान के विकास तथा देश की परिस्थितियो मे प्रति सवेदनशील रचनाकारो की इमानदार प्रतिक्रियाओ से जो यथार्थवादी साहित्य जन्म ले रहा था। प्रगतिवादी उसी का सुसगत ऐतिहासिक विकास था। परन्तु विदेशो मे बसे भारतीयो ने प्रगतिवाद रूपी आग को प्रज्वलित करने मे चिनगारी का कार्य जरूर किया। जिसे इन्कार करना सत्य से मुख मोडने जैसा ही होगा।

इस प्रकार प्रगतिवाद का उदय छायावादोत्तर हिन्दी साहित्य मे माक्सवादी चितन से ओतप्रोत साहित्यिक आन्दोलन के रूप मे हुआ। प्रगतिवाद वस्तुत साहित्य या काव्य चेतना की वस्तुवाद का कठोर विषय था, जो यथार्थ धरातल पर खीच ले जाने का प्रयास था। शोषित पीडित आम आदमी प्रगतिवादी रचना के केन्द्र मे है। सामन्तवादी या बुर्जुवा मूल्यो से उसका स्वभाविक विरोध है, और वह वर्गहीन शोषणमुक्त समाज का द्रष्टा है।

वस्तुत लेखक था रचनाकार अपने समय की नब्ज को पकडे रहता है। समाज के परिवर्तन या उथल पुथल के सूक्ष्म से सूक्ष्म सकेतो को अपनी रडार दृष्टि से पकड लेता है यही कारण है कि भारतीय समाज मे परिवर्तन को प्रेमचन्द जी ने महसूस किया, साथ ही जब कविता के क्षेत्र मे छायावाद का विकास लगभग रूक सा गया। ऐसे मे यूरोप से आये भारतीयो ने प्रगति की आवाज लगाई और छायावादी कवियो (पत और निराला) ने महसूस किया कि यह तो उनके अन्तरआत्मा की ही आवाज है।

फलत सुमित्रानन्दन पन्त ने छायावाद का 'युगान्त' घोषित कर प्रगतिवाद को 'युगवाणी' के रूप मे तुरन्त अपना लिया, निराला व महादेवी वर्मा ने भी एक सीमा तक इसे स्वीकार कर लिया।

वस्तुत निराला इस आन्दोलन के बहुत पहले ही यथार्थ रचनाये करने लगे थे। पर जिस प्रकार छायावाद मे पत जी को निराला जी से अधिक महत्व प्रदान किया गया, वही स्थिति प्रगतिवाद मे भी घटित हुई, प्रगतिवाद के प्रतिनिधि कवियो मे पतजी निराला जी को पिछे ढकेल कर श्री गणेश का श्रेय की ले उडे। यथा—ग्राम्य की रचना करते हुए पत जी ने कहा—

'देख रहा हूँ आज विश्व को मै ग्रामीण नयन से
सोच रहा हूँ जटिल जगत् पर, जीवन पर जन मन से'

'ग्राम्या' की रचना के बाद पत जी यथार्थवाद और अध्यात्मवाद के बीच सामन्जस्य करने का पूरा प्रयत्न करते रहे, पर वे तो दो विपरीत प्रवृत्तिया थी, लाख कोशिश करने के बाद भी पत जी अध्यात्मवाद की ओर से अपने को मुक्त नही कर सके और 'ज्योत्सना' काल के अध्यात्मवाद की ओर मुडते हुए उनका देहावसान हो गया।

सन् 1943 के आस पास प्रगतिवाद को आगे बढाने का कार्य निराला जी के कन्धो पर आ गया, क्योकी पतजी के साथ पुराने कवियो मे मात्र नही थे— 'बादल राग', 'वन वेला', 'सरोज स्मृति' और 'नर्गिस' के कवि से लोगो को बडी अपेक्षाये थी क्योकि उन्होने सन् 1923 मे ही लिखा था

'रूद्ध कोस है, क्षुद्ध तोष
आगना—–अग से लिपते भी
आतक अक पर काप रहे है
धनी वज्र गर्जन के बादल
त्रस्त नयन—मुख ढॉप रहे है।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ये विप्लव के वीर।[1]

(बादल राग)

---

[1] सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला— परिमल' से उदधृत

पत जी की रचना युगवाणी और ग्राम्या की प्रतिक्रिया मे निराला जी ने 1943 मे अणिमा निकाली, परन्तु ग्राम्या की तुलना मे यह हल्की रचना साबित हुई और इसके वाद की रचनाये कुकुरमुत्ता, 'नये पत्ते', गर्म पकौडी', 'डिप्टी साहब आये', 'कुत्ता भौकने लगा, आदि कुछ व्यग की रचनाये हुई, जिसे निराला के जिदगी का व्यग समझा गया। कुछ ने इसे निराला का पागलपन समझा तथा कुछ लोगो ने इसे निराला का निरालापन कहा। अन्ततोगत्वा शिवदान सिह चौहान जैसे आलोचको ने पत जी को ही प्रगतिवाद का प्रवर्तक समझा और निराला की प्रगतिशीलता को कम महत्व दिया गया, जो उनके साथ एक अन्याय था।

प्रगतिशील आन्दोलन की सबसे बडी देन यह मानी जायेगी कि इस प्रभाव मे किसानो मजदूरो तथा कुछ निम्न मध्यम वर्गीय युवको मे से नवीन भावनाओ वाले कवि और लेखक निकले जिनमे – राहुल साकृत्यायन, यशपाल, अश्क, केदारनाथ सिह, केदारनाथ अग्रवाल, राम विलास शर्मा शिवमगल सिह 'सुमन', भवानी प्रसाद मिश्र, रामवृक्ष बेनीपुरी, त्रिलोचन, रागेय–राघव, अमृत राय, भिष्म साहनी, राजेन्द्र यादव, आदि। जो विचारधारा राजनीति के क्षेत्र मे समाजवाद है, और दर्शन मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है, वही साहित्य के क्षेत्र मे प्रगतिवाद है।' अत प्रगतिवाद के मूल मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन कार्य करता है, जिसमे दो शब्द है– पहला द्वन्द्वात्मक दूसरा भौतिकवाद।

भौतिकवाद से तात्पर्य है कि ससार का मूलाधार पचभूत तत्व है, अर्थात पदार्थ है। हमारा शरीर इन पदार्थों से वना है, शारीरिक इन्द्रियो की भाति हमारा मस्तिष्क भी एक इन्द्रिय है जो पदार्थ का बना है। वाह्य ससार की घटनाओ की हमारी इन्द्रियो पर प्रतिक्रिया होती है। जिससे कम्पन उत्पन्न होता है, मस्तिष्क इन शुक्ष्म कपनो को अपनी सवेदना के द्वारा महसूस करता है भौतिकवाद के अनुसार आत्मा कोई परलौकिक वस्तु नही है, वह पदार्थ से ही निर्मित अति सवेदनशील

गतिशील वस्तु है। इसमे गति पैदा करने के लिए किसी ब्रह्म की आवश्यकता नही होती, वह विपरीत प्रभावो मे द्वन्द से गतिशील होती है। इस प्रकार इस विश्व मे केवल एक ही सत्ता है वह है अधिभौतिक।

भौतिकवादियो के अनुसार ससार कोई मनुष्य या ईश्वर द्वारा निर्मित न होकर वह भौतिक पदार्थो द्वारा निर्मित, सतत् विकास की ओर उन्मुख व पतनशील होता है, जिसमे विकास व विनाश देनो प्रवृत्तिया विद्यमान होती है।

भौतिक जीवन की प्रमुख सस्था है समाज, समाज का मूलाधार है अर्थ?

भारतीय समाज मे समाज के अवयव (पुरषार्थ) चार माने जाते रहे है– क्रमश धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। प्रगतिवादी इनमे से सिर्फ अर्थ व काम को ही स्वीकार करता है, परन्तु मोक्ष को वह पूरी तरह अस्वीकार कर देता है। प्रगतिवादी सिद्धान्त के अनुसार आज समाज मे दो विरोधी शक्तिया प्रचलित है–

1 समाजवाद

2 पॅूजीवाद

पॅूजीवाद जिसका एक रूप साम्राज्यवाद भी है, पतनोन्मुख है और साम्यवाद विकासोन्मुख है। प्रगतिवाद साम्यवाद का पोषक है और पॅूजीवाद का शत्रु।

हमारे समाज मे जागृत शक्तिया वे लोग है जो अब तक दलित है, शोषित है, प्रगतिवादी साहित्य उनकी सहायता करता है। उनकी शक्ति सगठित करने के लिए उनके पक्ष मे आन्दोलन करता है। उनके कष्टो को समाज मे उभाडता है और कष्टो का तीव्र विरोध करता है।

प्रगतिवाद व्यक्तिवाद मे विश्वास नही रखता, वह व्यक्तिगत भावना के स्थान पर सामाजिक भावना का स्वागत करता है, यदि इसे सुखवादी दृष्टि से तौले तो प्रगतिवाद 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' पर बता देता है।

प्रगतिवादी, सौन्दर्य को निज मे न देखकर सामाजिक स्वास्थ्य मे देखता है। अर्थात प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहम् का समाजीकरण है। परन्तु प्रगतिवाद पर फ्रायड का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। जिसका समुचित वर्णन आगे मे अध्यायो मे दिया जायेगा।

भारतीय परिप्रेक्ष्य मे प्राकृतिक भावनाओ (आशा, त्रिष्णा) का सयम गोपन तथा दमन ही परिष्कार व सस्कार माना जाता था, परन्तु फ्रायडवादियो के अनुसार इनका दमन मानसिक कुठा को जन्म देता है। अत कुछ प्रगतिवादी स्वस्थ मानव प्रवृत्ति को प्राकृतिक रूप मे व्यक्त करने से नही घबराता।

यथा–

धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन
अकित कर सकते नही, प्रिया के अधरो पर।
क्या गुह्य–क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान,
नर नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण।

प्रगतिवाद मे विचार के साथ अभिव्यजना भी बदल गयी, और कला के प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया–

'ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण' जहॉ तक प्रेम भावना का प्रश्न है ऐसा नही है कि प्रगतिवादी कवि को प्रेम सम्बन्धी दु ख दर्द नही सताता।

प्रगतिवादी होने का यह अर्थ नही है कि वह भावनाशून्य हो जाय, आखिर प्रगतिवादी भी एक मनुष्य है, उसकी भी भावनाये है, वह प्रयोगवादियो की भाति सपूर्ण जीवन से प्रेम सम्बन्ध को अलग करके देखने का आदी नही है, उसका प्रेम सामाजिकता पर बल देता है, त्रिलोचन का अनुभव है कि–

मुझे जगत्–जीवन का प्रेमी
बना रहा है प्यार तुम्हारा'

(त्रिलोचन)

यही सामाजिकता प्रगतिशील कवि को देश प्रेम की ओर खीचती है,

अन्तर्राष्ट्रीयता, के साथ–2 वह अपने जनपद व गाव से भी उतना ही प्यार करता है, गॉव मे घुसते ही प्रगतिशील कवि वैयक्तिकता भूल कर गाव के रहन–सहन का चित्र उतारता है। अहीर की निरक्षर लडकी चम्पा, भोरई केवट, चना चबेना खाने वाला चन्दू, तथा नागार्जुन के दुखरन झा व उनका शिक्षा केन्द्र–

'घुन खाये सहतीरो पर की बारह खडी विघाता बॉचे,
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर विसतुइया नाचे।
बरसा कर बेबस बच्चो पर मिनट मिनट मे पॉच तमाचे
इसी तरह दुखरन मास्टर गढता है आमद के सॉचे।

(युगधारा)

दुखरन झा की आर्थिक बदहाली से उपजी मानसिक कुठा के शिकार प्राय बेवस बच्चे बनते है।

प्रगतिवादी कविता मे प्राय कला–पक्ष का अभाव ही है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि भाव की दृष्टि से प्रगतिवादी कविता शून्य हो, उसकी सबसे बडी शक्ति उसका व्यग है, जो अन्दर तक जा कर चोट करता है, समाज की विद्रुपता को बाहर ला कर रख देता है, व्यगकारो मे निराल जी, केदारनाथ तथा नागार्जुन का व्यग प्रभावोत्पादक होता है, आइए नागार्जुन के एक व्यग का परीक्षण करे–

हमारे नेता अक्सर यह कहते मिलते है कि भारत मे भूख से या अकाल से कोई मृत्यु नही होती है। इसी पर यमराज तथा एक मरे हुए मास्टर का वार्तालाप है। नरक के मालिक 'प्रेत का बयान' लेते हुए पूछते है कि कैसे मरा तूँ?

जबाब मे नाचकर लम्बे चमचो सा पचगुरा हाथ, पतली किट किट की आवाज मे–प्रेत अपना पूरा पता बताते हुए–करेमो की पत्तिया खाने की आधी बात कह पाता

है कि दण्डपाणि–महाकाल अविश्वास की हसी हस कर कहते है– "बडे अच्छे मास्टर हो। आये हो मुझको भी पढाने ।। वाह भाई वाह। तो तुम भूख से नही मरे?" इस पर हद से ज्यादा जोर डाल कर प्रेत कहता है कि और और और और भले नाना प्रकार की व्याधियॉ हो भारत मे, किन्तु–किन्तु भूख या क्षुधा नाम हो जिसका ऐसी किसी व्याधि का पता नही हमको। और भाप का आवेश निकल जाने पर शान्त स्मित स्वर मे फिर कहता है, जहॉ तक मेरा अपना सम्बन्ध है, सुनिये महाराज–

तनिक भी पीर नही
दुख नही, दुविधा नही
सरलता पूर्वक निकले थे प्राण
सह न सकी आत पेचिस का हमला

निराला जी की रचना, 'चतुरी चमार', 'बिल्लेसुर बकरिहा' सामाजिक व्यवस्था पर तीखा व्यग है। समाज की व्यवस्था समाज के ठेकेदारो पर उनका चतुर्दिक शोषण से उपजी अराजकता से मुक्ति के लिए छटपटाता समाज का निम्न वर्ग अब सामन्तवाद को और अधिक ढोने की स्थिति मे नही रह गया था। जिसका पूर्व आभास निराला ने अपनी लेखनी द्वारा प्रस्तुत कर दिया था।

निराला जी प्राय समाज मे व्याप्त रूढि व कठोर परम्परा को तो तोड सकते थे, परन्तु अर्थ–अक कैसे खण्डित करते।

'खण्डित करने को भाग्य अक, देखा भविष्य के प्रति अशक'[1] इस प्रकार निराला सरोज स्मृति, राम की शक्ति पूजा आदि तक आते–आते समाज मे व्याप्त कुप्रथा, झूठे सस्कार, लचीले मानदण्ड को तोडने के प्रति कसमसा उठे, उन्होने सरोज स्मृति मे विवाह प्रथा पर अपने रोष व्यक्त करते हुए कान्यकुब्ज पर व्यग किया–

ये कान्यकुब्ज कुल कुलागार
खाकर पत्तल मे करे छेद,
इनके कर का कन्या अर्थ खेद–[2]

---

1 'अनामिका' सग्रह की सरोज स्मृति से उद्धृत– सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला।
2 निराला के सग्रह 'अनामिका' के सरोज स्मृति कविता से लिया गया।

समाज मे गरीब जनता अपने अर्थाभाव के कारण लगातार मानसिक यत्रणा से गुजरती रहती है, पर अपने समाज व्यवस्थाकारो द्वारा निर्मित शोषणयुक्त व्यवस्था के प्रति विद्रोह नही कर पाती और कोल्हू के बैल की तरह इस सामतवादी व्यवस्था मे पिसने को अभिशप्त रहती है। परन्तु व्यवस्था के प्रति निराला ने विद्रोह के स्वर, सर्व प्रथम देखे जा सकते है। क्रातिकारी निराला इन रूढियो को समर्पित नही हो सकते यथा–

वे जमुना के से कछार
पद फटे विवाई के उधार
खाये के मुख ज्यो पिये तेल
चमरौधे जुते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर गध
इन चरणो को मै यथा अध
कल घ्राण–प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूॅ मुझमे नही शक्ति

और अपना निर्णय सुनाते हुए कहते है कि–

ऐसे शिव से गिरजा विवाह
करने की मुझको नही चाह।[1]

ऊपर की पक्तियो मे ऐसे शिव विशेषण है, यह व्यगपूर्ण कविता को विडम्बनात्मक बना देता है। इसमे विद्रोही तेवर उभर कर सामने आता है। वास्तविक ससार अपने ढग की अपेक्षा रखता है। दुनिया की मॉग और कवि की मॉग मे टकराहट होती है, एक तनाव उत्पन्न होता है इस व्यग विधान और विसगति द्वारा कवि झूठी वास्तविकता की दुनिया को अपनी रचना मे और भी दर्दनाक बना देता है। जो प्रगतिवाद का एक मानदण्ड है, इसके अनुसार कवि का कर्तव्य समाज की पीडा

---

1 निराला के सग्रह 'अनामिका' के सरोज स्मृति कविता से लिया गया।

को उजागर करना, तथा व्यवस्था के प्रति जन जीवन मे जागृति पैदा करना है, जिसे निराला ने दायित्वपूर्ण ढग से निभाया है।

भारतीय परिस्थितियॉ भी प्रगतिवाद के विकास के लिए पूरी तरह से उर्वर बन चुकी थी। क्योकि साम्राज्यवाद फासिस्टवाद ने पूरी तरह भारतीय समाज को जकड लिया था। निरीह जनता पूँजीवाद के भार से दब कर कराह रही थी। छायावादी कवि कल्पना के पर लगाकर सौन्दर्य के विहगम गीत गा चुका था, ऐसी स्थिति मे नये युग का सूत्रपात होना ही था, जिसका नाम प्रगतिवाद रखा गया, जो उचित था।

डा० मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर, भवानी भट्टाचार्य, जे०सी०घोष, एम० सिन्हा आदि लेखको ने भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना की और उसके उद्देश्यो को एक विस्तृत का रूप दे कर भारत भेजा, जिसमे समाज के प्रति रूढियो और विश्वासो की खुलकर अलोचना, नये समाज के विकास का आवाहन किया गया तथा भारतीय साहित्य को इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन बनाया गया, जो प्रगतिवाद ही हो सकता था।

प्रेम चन्द्र का पत्र 'हस' इस प्रगतिवाद के विकास मे खुलकर सामने आया, और अनेक प्रगतिवादी विचार इसमे छपने लगे। साहित्य के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए प्रेम चन्द्र जी ने जनता मे नव चेतना का सचार किया।

प्रगतिशील लेखक –सघ' के सात अधिवेशन हुए– और प्रत्येक घोषणा–पत्र मे साहित्य के उद्देश्य व साहित्यकार के कर्तव्य की बात कही जाती रही। जिसका साराश इस अध्याय के अन्त मे दिया गया है। इस सघ ने भारतीय लेखको मे नवीन सृजनात्मकता का सचार किया। प्रगतिवादी चितन केवल काव्य तक सीमित न होकर, गद्य विधा यथा–, कहानी, उपन्यास नाटक निबन्ध तथा इन सबके साथ–साथ हिन्दी मे एक नवीन 'प्रगतिवादी अलोचना शैली का अविर्भाव हुआ।

प्रगतिवादी लेखक सघ से प्रभावित होकर प० राहुल सास्कृत्यान की अध्यक्षता

मे ''अखिल भारतीय गतिशील लेखक सघ'' की स्थापना हुई, जिसमे प्रगतिवाद का अर्थ, व उसके उद्देश्य को स्पष्ट किया गया। इसी लय पर पूरे देश मे अनेक सघो का निर्माण हुआ। जैसे– 'उत्तर प्रदेश प्रगतिशील लेखक सघ', 'काशी प्रगतिशील लेखक सघ' आदि।

प्रथम अधिवेशन मे राष्ट्रभाषा, जनपदीय भाषा आदि के विकास पर बल दिया गया, परन्तु द्वितीय अधिवेशन मे प्रगतिशील लेखको से जातीय सकीर्णता, क्षेतीयता आदि से दूर रह कर साहित्य निर्माण का आग्रह किया गया।

इन सघो के विकास के साथ प्रगतिवादी पत्र–पत्रिकाओ का प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया। 'हस' के साथ ही श्री सुरेन्द्र नाथ गोस्वामी तथा हिरेन्द्र मुखोपाध्याय के सपादकत्व मे 'प्रगति' नामक एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। प० सुमित्राानन्दन पत व नरेन्द्र शर्मा के सपादकत्व मे 'स्याम' इसी प्रकार का पत्र था। प्रेमचन्द्र व सम्पूर्णा नन्द द्वारा सपादित 'जागरण' प्रगतिवादी आन्दोलन को खुलकर समर्थन दे रहा था। इनके साथ अनेक कवियो ने प्रगतिवाद को खुलकर समर्थन दिया जिनमे मुख्य है– राम विलास शर्मा, रागेय–राघव, केदार नाथ अग्रवाल, नरेन्द्र शर्मा, शिवदान सिह चोहान, और अमृत राय।

समाज का एक मुख्य अग होने के कारण प्रगतिवाद के क्षेत्र मे नारी की क्या भूमिका रही यह बताने के साथ यह भी बताना हमे आवश्यक प्रतीत हुआ कि नारी के प्रति प्रगतिवादी समाज मे क्या कोई अमूल–चूल परिवर्तन आया? हॉ अवश्य आया। इस परिवर्तन मे कवियो द्वारा कही जाने वाली अबला, अब सबला हो गयी। कोमलागी, साज–श्रृगार से सुसज्जित प्रिया, जीवन क्षेत्र मे पुरूष की सहयोगिनी हो गयी। अब वह पुरूष के मनोरजन का साधन न रह कर अपने परिवार की तरणी की भूमिकाओ मे देखी गयी, अत नारी के प्रति दृष्टिकोण मे जो बदलाव साहित्य मे देखा गया, कमोवेश समाज मे भी घटित होता नजर आया और साहित्य समाज से जुडकर

राज्य, जनपद, कस्बो को लाघता हुआ गाव की गलियो झोपडियो तक जा पहुँचा। साहित्य का इतना विस्तार इतना सामान्यीकरण पहले कभी नही देखा गया था। उपन्यासो कहानियो के माध्यम से यथार्थ–चेतना का विकास प्रारम्भ हो चुका था।

उपन्यास के क्षेत्र मे यथार्थ रचनाये, बदली हुई विचारधारा, प्राय प्रेमचन्द युग से ही आरम्भ हो गयी थी। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो मे जहा एक ओर समाज की विद्रूपता को उद्घाटित किया, शोषित की पीडा को व्यक्त किया, वही दूसरी ओर उन्होने सामन्तो साहुकारो के हृदय परिवर्तन की आशा करते हुए आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया पर गोदान तक आते–आते उनका मोह भग सा प्रतीत हुआ, गोदान का नायक होरी की यह अभिलाषा, कि मोटा–मोटा खा कर मरजाद से रह कर, एक किसान के रूप मे मरने की, भी पूरी न हो सकी। सामन्तवादी शोषण व पूँजीवादी व्यवस्था के चगुल मे फॅसकर वह मरते दम तक न तो किसान रह गया, न ही उसका मरजाद बच पाया। यह करूण कथा की एक व्यग त्रासदी बन कर रह गयी। गोदान मे प्रगतिवादी स्वर अभिव्यक्ति हुए है। जिनका आगे विस्तृत विवेचन किया जायेगा।

प्रेमचन्द युग के जो उपन्यास लिखे गये उनके बारे मे रामेश्वर शुक्ल अचल ने अपने समाज और साहित्य मे लिखा–''समस्त सामाजिक अभावो और विचारो का सम्बन्ध एव लगाव एक अन्यायी सामाजिक व्यवस्था से है उनका यह निष्कर्ष था कि जो सामाजिक व्यवस्था उन सब अभावो और असगत विषमताओ को आश्रय देती है। वह सिर से पैर तक भयावह व विषाक्त है।[1]

प्रेमचन्द ने जिस परम्परा का सूत्रपात किया था उसे यशपाल जी ने आगे बढाया। वे उपन्यास के क्षेत्र मे प्रेमचन्द जी ने बाद प्रतिनिधित्व करने वालो मे अग्रणीय है, प्रगतिवादी साहित्य उनका ऋणी है। वे इस धारा के सशक्त व सफल

---

1 रामेश्वर शुक्ल अचल–समाज और साहित्य–पृ० स०–105

साहित्यकार थे यशपाल की चतुर्दिक सेवा से प्रगतिवादी साहित्य हमेशा ऋणी रहेगा। यशपाल ने जो प्रमुख उपन्यास लिखे वे निम्न है– दादा कामरेड (1941) इस उपन्यास मे किसान व मजदूरो के लिए एक नव युवक का जीवन भर सघर्ष है, और अन्त मे सघर्ष करते हुए आगे की भी सघर्ष का मार्ग दर्शन करते हुए मर मिटने की कहानी है। मजदूरो की बेवसी, उनके विरोध मे हडताले विद्रोह आदि का व्यवहारिक वर्णन है। नारी के प्रति भी बदले हुए विचारो के दर्शन होते है। नारी को घर की चाहरदीवारी से निकालकर पुरूष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते दिखाया गया है। अन्य उपन्यास भी इसी प्रकार के है। जैसे– देश द्रोही (1943), पार्टी कामरेड (1947) दिव्या (1945) मनुष्य के रूप (1949), अमीता (1956) झूठा सच दो भाग (1998-1960) और 'अप्सरा का श्राप'।

यशपाल जी के उपन्यासो मे सामाजिक अव्यवस्था के प्रति विद्रोह तथा उनका प्रगतिवादी मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समाधान प्रस्तुत किया गया है नारी के प्रति नये दृष्टिकोण, किसी भी प्रकार के बन्धन के प्रति असहमति, पूर्वाग्रहो से असहमति वाह्य आडम्बरो के प्रति घृणा, और पूॅजीवाद के प्रति बगावत का स्वर कूट–कूट कर भरा हुआ है।

नागार्जुन जी ऐसे क्रान्तिकारी लेखक व कवि है जिनका सम्पूर्ण साहित्य वर्तमान अवस्थाओ से जुझते हुए और उनसे सघर्ष करते हुए आम नागरिक की कहानी कहता है, नागार्जुन जी की रचनाओ मे सामान्य वर्ग का इतनी सहजता से वर्णन है कि मानो उन्होने उसे बडी नजदीक से देखा है, भोगा है। लेखक ही रचनाओ मे ग्रामीण, किसान व देहाती जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण देखने को मिलता है आपने अधिकाश आचलिक उपन्यास लिखे है। नागार्जुन जी के मुख्य उपन्यास है–'रतिनाथ की चाची' (1948) 'बलचनमा' (1952) 'नई पौध' (1993) 'बाबा बटेसरनाथ' (1954) वरूण के बेटे' (1957) दु ख मोचन' (1957) नागार्जुन के ये सभी

उपन्यास ग्रामीण सामन्तवादी सस्कृति का मूल्याकन करते है। लेखक ने समस्याओ का निराकरण सुधारवादी धरातल पर न करके समाजवादी आलोक मे किया है। सामन्तवादी पूँजीवादी शक्तियो के प्रति खुला विरोध पारिलक्षित होता है।

रॉगेय–राघव उपनयास विधा के एक सशक्त और प्रमुख लेखक है। राघव जी ने लगभग 30 उपन्यास लिखे है और सभी मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रणयन किया है। 'घरौदे', सीधे साधे रास्ते', जो की टेढे–मेढे रास्ते के विपरीत लिखा गया था। विषाद मठ जो आनन्द मठ के विपरीत लिखा गया था। 'हुजूर', 'कब तक पुकारे', 'मूर्दे का टीला' आदि उपन्यास प्रगतिवाद को पूरी तरह व्याख्यायित करते है।

भैरव प्रसाद गुप्त जी ने कुछ उपन्यासो से तत्कालीन सघर्ष व बुर्जुवा और सर्वहारा की लडाई का चित्रण हुआ है। जैसे–'मशाल' (1951) 'गगा मैया' (1953) तथा 'सत्ती भैया का चौरा'। 'मशाल' उपन्यास मे कानपुर के मजदूरो के सघर्ष की कहानी है और मजदूरो का अपने अधिकारो की प्राप्ति के लिए लडाई का चित्रण है। इसका उद्देश्य मजदूरो किसानो मे स्वाधिकार के प्रति जागृति लाना था। गगा मैया मे दो कृषक परिवारो के माध्यम से ग्रामीण जीवन एव उनके सघर्ष का वर्णन है ग्रामवासी बहुत आशावादी है। आज दिन खराब है कल अच्छे दिन भी आयेगे। इसी आशा मे ये कठिन से कठिन जीवन व्यतीत कर जाते है। इसी आशावादी सघर्ष को सामने लाना ही उपन्यासकार का उद्देश्य है। अन्य उपन्यासो मे जजीरे 'नया आदमी' आदि है।

अमृत राय की रचनाये प्राय व्यगात्मकता से ओत प्रोत होती है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओ एव सामन्तवादियो के प्रति व्यगात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई है और व्यग के माध्यम से अपनी बात को समझाने का प्रयत्न किया गया है। 'बीज' मे 1942 से 1947 तक भारतीय समाज के विविध पक्षो को उद्घाटित किया गया है। एक अन्य उपन्यास "हॉथी के दात" मे एक सामन्त का व्यग चित्र खीचा गया है।

राजेन्द यादव जी के उपन्यास स्वतत्रता प्राप्ति के बाद आये। राजेन्द जी के उपन्यास प्राय मध्यमवर्ग का प्रतिनिधित्व करते है। 'प्रेत बोलता है,' 'उखडे हुए लोग (1956) 'कुलटा', ''सह और मात' (1967) प्राय इसी तरह के उपन्यास है। इन उपन्यासो मे सामाजिक विघटन, पूँजी और सत्ता के अनैतिक गठबन्धन, प्राचीन सस्कारो रूढियो और परम्पराओ व नव जागरण से सघर्ष करती नयी पीढी का चित्रण है।

प्राय महिला प्रगतिवादी उपन्यासकारो मे उषादेवी मित्रा 'वचन का मोल' तथा कन्चन लता सब्बरवाल– 'मूक प्रश्न' (1944), 'भोली भूल' (1946) और 'सकल्प' (1946) ने इन रचनाओ द्वारा अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। 'मूक प्रश्न' मे लेखिका ने स्त्री के लिये रूप सौन्दर्य के स्थान पर चारित्रिक सौन्दर्य का महत्व प्रतिपादित किया और 'भोली भूल' मे वेश्याओ के प्रति लेखिका की सहानुभूति व्यक्त हुई है परन्तु प्रेम विवाह के प्रति लेखिका की कोई सहानुभूति नही है।

राहुल साकृत्यायन जी के 'सोने की ढाल', 'विस्मृति के गर्भ मे', 'जीने के लिये' आदि उपन्यास इसी श्रृखला के है। इस प्रकार प्रगतिवादी उपन्यासो की एक वाढ सी आ गयी, और कई वर्षों तक उपन्यासो के माध्यम से वर्तमान विषय परिस्थितियो से जूझती सामाजिक द्वन्द्व मे फसी निरीह जनता का चित्रण किया जाता रहा। जिससे प्रगतिवाद का आधार विस्तृत होता गया।

कहानी . कहानी का विकास भी प्रेमचन्द जी से प्रारम्भ होकर यशपाल तक जा कर प्रगतिवादी रूप मे व्यक्त होने लगता है। वैसे प्रेमचन्द की कहानियो मे ग्रामीण चित्रण है, सघर्ष भी है, परन्तु पात्र सघर्ष करते करते मर जाते है। खुला विद्रोह नही कर पाते है। कुछ कहानिया यथा 'कफन' मे यह समाज के साथ विद्रोह है पर यह सामाजिक विषमता पर व्यग वन कर रह गया है। घीसू और माधव उदर तृप्ति के बाद मृत आत्मा को नशे की हालत मे आशीर्वाद देते है और यह उत्घाटित करते है

कि समाज के ठेकेदार फिर चन्दा लगा कर कफन खरीदेगे। यशपाल की कहानियो मे वर्तमान जीवन मे धर्म, नैतिकता, प्रेम, न्याय, इज्जत, सबके पीछे आर्थिक स्वार्थ निहित है। यह सत्य यशपाल जी समझ गये थे और यही सत्य उनकी कहानियो का कथ्य भी है। यशपाल जी के 14 कहानी सग्रह प्रकाशित है। प्रमुख सग्रह है–

'ज्ञानदान', दु ख का अधिकार', 'जबरदस्ती', 'पिजरे की उडान', 'वो दुनिया', 'तर्क का तुफान' आदि। कहानी लेखको मे एक नाम अग्रणीय है वह है राहुल साकृत्यायन जी का। 'वोल्गा से गगा तक' इनकी कहानियो मे आर्यों के प्रागैतिहासिक काल से भारत मे आने बसने आदि का आधुनिक काल तक का इतिहास मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

अन्य कहानीकारो मे अमृत राय, डा० राङ्गेय राघव, डा० भगवत शरण उपाध्याय, अमृत लाल नागर मनमथ नाथ गुप्त, आदि ने प्रगतिवाद का कहानियो के माध्यम से विकास किया है। रामेश्वर शुक्ल अचल का एक कहानी सग्रह–'ये, वो, बहुतेरे ,मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर लिखी कहानी सग्रह है। अमृत राय ने 'जीवन के पहलू', 'लाल धरती', 'गीली मिट्‌टी', आदि कहानिया लिखी।

इस प्रकार जिन लेखको ने उपन्यास लिख कर मजदूर वर्ग को सघर्ष का पाठ पढाया उन्ही लेखको ने कहानियो के माध्यम से प्रगतिवादी साहित्य का चतुर्दिक विकास किया। इन कहानियो मे सामाजिक विषमता मजदूर वर्ग का सघर्ष पूँजीवाद के समाप्ति के लिए क्रान्ति, प्राचीन रूढियो, परम्पराओ का खण्डन, नारी के प्रति नया दृष्टिकोण आदि इनसे प्रकट हुआ।

समीक्षा प्रगतिवादी समीक्षा ने 1938–39 तक हिन्दी मे अपना स्थान प्राप्त कर लिया था। सुमित्रा नन्दन पत के सम्पादकत्व मे 'रूपाभ' 1938 द्वारा इसका विकास हुआ। 'त्रिशकू के कुछ लेखो के कारण अज्ञेय के प्रगतिशील समीक्षक होने का भ्रम हुआ था पर सिघ्र ही ये मुलम्मा की उतर गया। प्रो० प्रकाश चन्द्र गुप्त के लेखो मे विश्लेषण

की सूक्ष्मता, चिन्तन की गहराई, अभिव्यक्ति की शक्ति इतनी कम है कि वे ज्यादा आगे बढ न सके। उन्हे ज्यादा ख्याति नही मिल सकी।

प्रगतिवादी समीक्षको मे प्रमुख रूप से डा० राम विलास शर्मा, और श्री शिवदान सिह चौहान, अमृत राय, नामवर सिह आदि है। शर्मा जी की पकड बहुत पैनी हे। प्रगतिवादी आलोचना मूल्याकन के लिये निश्चित सिद्धान्त की रूप–रेखा प्रस्तुत करती है। उसके अनुसार यथार्थ का पूर्ण चित्रण ही कला की कसौटी है शर्मा जी इस सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर रचनाकारो व समीक्षको की रचनाओ के नीजीविरोधाभासो को वडी सरलता से पकड लेते है। आलोचना मे व्यग को शर्मा जी आवश्यक मानते है। ''प्रगति व परम्परा'' 'सस्कृति एव साहित्य, भारतेन्दु युग, प्रेमचन्द व उनका युग, प्रगतिशील साहित्य की समस्याये' आदि इसी कोटि के समीक्षात्मक ग्रन्थ है।

शिवदान सिह चौहान ने पश्चिमी प्रगतिवादी आलोचना साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया, और उसके बाद हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र मे प्रगतिवादी साहित्यिक रचना क्रिया को 'मै' से सम्बन्धित कर उसे सीमित नही बनाया वरन उसे साहित्य के मूल मे 'हम' की भावना से जोडते है। और इसी प्रकार की भावना व्यक्त करते है। चौहान जी की अलोचनात्मक रचनाओ मे निम्न ग्रन्थ आते है– 'प्रगतिवाद– जिसमे लेखक ने प्रगतिवाद को समझाया है? अन्य ग्रन्थो मे साहित्य की परख', 'आलोचना के मान' तथा 'साहित्यिक समस्याये' आदि है। चौहान जी ने अपने रामीक्षा मे प्रगतिवाद के दार्शनिक आधार को स्पष्ट किया है।

अन्य समीक्षाओ मे रामेश्वर शुक्ल, डा० रागेय राघव, डा० नामवर सिह आदि है।

प्रगतिवादी दर्शन को समझाने मे प्रगतिवादी समीक्षा का बहुत बडा योगदान है। क्योकि इससे यह ज्ञात होता है कि साहित्य का उद्देश्य क्या है? साहित्य जीवन से पृथक नही किया जा सकता है। यह चेतना प्रगतिवादी समीक्षा ने ही प्रदान की। प्रगतिवादी समीक्षा मे वौद्धिक विश्लेषण, वैज्ञानिक अध्ययन, आदि के सदर्भो मे साहित्य

के अध्ययन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ।

इन सबके बावजूद प्रगतिवादी समीक्षा की कुछ कमियॉ है। जिनको उत्घाटित करते हुए प्राय यह कहा जाता है कि ये एकागी है, तथा इनमे कला–पक्ष का अभाव है साहित्य के लिये कला–पक्ष का अभाव प्राय खटकता है, पर भाव पक्ष की सशक्तता इन कमियो को पूर्ण करने का प्रयास अवश्य करती है।

इस प्रकार इन तमाम उतार–चढाव के बीच प्रगतिवादी साहित्य सभी विधाओ मे फलता फूलता आगे की ओर बढता रहा, और जन प्रतिनिधित्व करता रहा इस साहित्य ने समीक्षा के कुछ नये प्रतिमानो की खोज भी की। परन्तु परिवर्तन स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिस प्रकार समाज मे सतत् परिवर्तन होता है उसी प्रकार साहित्य मे भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। आगे नये प्रयोगो का दौर चला, साहित्य मे भी नये प्रयोग मनोवैज्ञानिकता, बौद्धिकता, अर्न्तमन की कुठा, प्रतीको बिम्बो के माध्यम से व्यक्त होने लगी। इसकी सूचना, साहित्य मे अज्ञेय जी ले कर आये। तारसप्तक के माध्यम से साहित्य मे एक नयी धारा का सूत्रपात हुआ जिसे प्रयोगवाद नाम से जाना जाने लगा।

प्रगतिवाद को सही रूप मे समझने के लिये प्रगतिशील लेखक सघ के सातो अधिवेशनो का साराश यहा प्रस्तुत करना अनिवार्य है अत इनका विवरण निम्न है।

1. लदन मे तैयार हुए 'प्रगतिशील लेखक सघ' के घोषणापत्र का साराश

भारतीय समाज मे बडे–बडे परिवर्तन हो रहे है। पुराने विचारो और विश्वासो की जडे हिलती जा रही है और एक नए समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्यकारो का धर्म है कि वे भारतीय जीवन मे पैदा होने वाली क्राति को शब्द और रूप दे और राष्ट्र की उन्नति के मार्ग पर चलाने मे सहायक हो। भारतीय साहित्य पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से, जीवन की यथार्थताओ से भागकर उपासना और भक्ति

की शरण मे जा छुपा है नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप मे भी आर्थ मे भी। आज हमारे साहित्य मे भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गई है। भावुकता का ही प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक तरह से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियो मे विशेषकर इसी तरह का सहित्य रचा गया है जो हमारे साहित्य का लज्जास्पद काल है। इस सभा का उद्देश्य अपने साहित्य और दूसरी कलाओ को पुजारियो पडितो और अप्रगतिशील वर्गो के आधिपत्य से निकालकर उन्हे जनता के निकटतम ससर्ग मे लाना, उनमे जीवन और वास्तकिता लाना है, जिससे हम अपने भविष्य को उज्जवल कर सके। हम भारतीय सभ्यता की परराओ की रक्षा करते हुये अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृतितयो की निर्दयता से आलोचना करेगे, जिससे हम अपनी मजिल पर पहुच सके। हमारी धारणा है कि भारत के नए साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यो का समन्वय करना चाहिए और वे है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनीतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओ को समझ सकेगे और तभी हम मे क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सब कुछ जो हमे निष्क्रियता, अर्मण्यता और अधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सब कुछ जो हम मे समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमे प्रियतम रूढियो को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमे कर्मण्य बनाता है ओर हम मे सगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते है।

—— 'हस' जनवरी 1936 मे प्रकाशित

2 'भारतीय साहित्य परिषद' के नागपुर अधिवेशन मे पारित प्रस्ताव

(हस्ताक्षरकर्ता – जवाहरलाल नेहरू, प्रेमचद नरेद्र देव, मौलवी अब्दुल हक अख्तर हुसेन रायपुरी)

"हमारे देश मे यह पहला ही मौका है कि अलग अलग भाषाओ के लेखक एक जगह सहयोग का नाता जोडने के लिए जमा हुए है। सवाल यह है कि इस सहयोग की बुनियाद क्या हो? परिषद ने कई तरीके बताए है। पर हमारे विचार मे एक बहुत बडा मसला बाकी रह गया है, जिस पर सबसे पहले गौर होना चाहिए था। हमने यह तो कह दिया कि साहित्य का आकार क्या हो, लेकिन यह नही बतलाया कि उसकी आत्मा का रूपरग क्या हो। 'कैसे कहना है' का सवाल बाद मे उठता है। पहले यह ठहराना है कि क्या कहना है कि क्या कहना है किन से कहना है।

हमारी समझ मे साहित्य की समस्याओ को जीवन की दूसरी समस्याओ से अलग नही किया जा सकता। जीवन एक पूरी इकाई है, उसे सहित्य, राजनीति, फिलासफी आदि के खाने मे नही बाटा जा सकता। साहित्य जीवन का आईना है, यही नही, वह जीवनरथ का सारथी है। उसे जीवन के साथ चलना ही नही है, बल्कि उसे राह भी दिखाना है।

हमारा जीवन किधर जा रहा है, उसे किधर जाना चाहिए, यह हम सब जानते है। साहित्यक इसान भी है, और उसे समाज की उन्नति के लिए उतना तो करना ही है, जो और हर इसान को करना चाहिए।

इसानियत के नाते हम पूछते है कि क्या आज जब तरक्की और उन्नति ओर अवनति की ताकतो मे आखरी लडाई छिडी हुई है, साहित्य उससे अपने को अलग रख सकता है? क्या कला, 'सौदर्य' आदि क पल्ला पकडकर वह जिदगी से भाग सकता है? क्या वह 'यर्थाथवाद' की फसील पर बैठकर 'क्राति' और प्रतिक्रिया के द्वद्व का तमाशा खामोशी से देख सकता है?

हर कला की जड एहसास–भावना मे है। तो फिर किसानो की पुकार मजदूरो की कराह और भिखरियो की आह हमे बेहिस क्यो रख सकती है? जब जीवन का सबसे बडा मामला यह है कि समाज की देह से बेकारी, गरीबी और शोषण का कोढ किस तरह धोया जाए, तो क्या यह कहने की जरूरत रह जाती है कि साहित्य का इशारा किस तरफ हो , वह क्या कहे किनसे कहे और किस तरह कहे?

इसलिए देश के साहित्यकारो से हमारी यह आशा है कि वे साबित कर दिखाए कि साहित्य की जड जिदगी मे है और जिदगी की जड परिवर्तन मे। जिदा और सच्चा साहित्य वही है जो समाज को बदलना चाहता है, ऊची मजिलो की तरफ ले जाता है और दुनिया को सबके रहने के योग्य बनाने की कामना रखता है।

हमे विश्वास है कि हमारे देश के साहित्यकार जीवन और साहित्य मे अलगाव की खाई को पाटकर, साहित्य को इन्कलाब का सदेशवाहक बनाएगे।'

–विशाल भारत, जुलाई 1936

3. प्रगतिशील लेखक सघ के लखनऊ अधिवेशन का घोषणापत्र (अप्रैल, 1936) भारतीय समाज मे बडे बडे परिवर्तन हो रहे है। पुराने विचारो और विश्वासो की जडे हिलती जा रही है और एक नए समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय लेखको का धर्म है, कि वे भारतीय जीवन मे पैदा होने वाली क्राति को शब्द और रूप दे और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने मे सहायक हो।

भारतीय साहित्य की विशेषता यह रही है कि वह जीवन की यथार्थताओ से भागता है और वह वास्तविकता से मुह मोडकर भक्ति और उपासना की शरण मे जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है, कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप मे भी अर्थ मे भी और आज हमारे साहित्य ने विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कर कर दिया है।

हमारे इस सघ का उद्‌देश्य साहित्य और दूसरी कलाओ को अप्रगतिशील वर्गो के अधिपत्य से निकालकर उन्हे जनता के निकटतम सम्पर्क मे लाया जाए, उनमे जीवन और वास्तविकता लाई जाए और वे उसे उज्जवल भविष्य का मार्ग दिखाए जिसके लिए मानवता इस युग मे सघर्षशील है।

हम भारतीय सस्कृति की परपराओ की रक्षा करते हुए देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियो की बडी निर्दयता से आलोचना करेगे। हम इस सघ के द्वारा हर उस भावना को व्यक्त करेगे जो हमारे देश को एक नए और बेहतर जीवन का मार्ग दिखाए। इस काम मे हम अपनी और विदेशो की सभ्यता तथा सस्कृति से लाभ उठाएगे। हम चाहते है कि भरत का नया साहित्य जीवन की बुनियादी समस्याओ को अपना विषय बनाए। वे है हमारी रोटी की, हमारी दद्रिता, हमारी साामाजिक अवनित की और हमारी राजनीतिक पराधीनता की समस्याए।

वह सब कुछ जो हमे निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है। हम उसका विरोध करते है।

वह सब कुछ जो हममे समीक्षा की प्रवृत्ति लाता है, जो हमे प्रियतम रूढियो को बुद्धि की कसौती पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमे कर्मठ बनाता है और हममे सगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते है।

संघ के उद्‌देश्य .

1 भारत के तमाम प्रगतिशील लेखको की सस्थाए सगठित करना और साहित्य छापकर अपने उद्‌देश्य का प्रचार करना।

2 प्रगतिशील लेखको और अनुवादको को प्रोत्सहित करना और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो के विरुद्ध सघर्ष करके देशवासियो के स्वाधीनता सग्राम को आगे बढाना।

3 प्रगतिशील लेखको की सहायता करना।

4 स्वतत्रता और स्वतत्र विचार की रक्षा करना।

4 अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ के कलकत्ता अधिवेशन का घोषणापत्र– (दिसम्बर 1938)

भारतीय समाज मे क्रातिकारी परिवर्तन हो रहे है। प्रतिक्रियावाद की आत्मा का अत यद्यपि अनिवार्य है और वह कुठित भी हो चुकी है फिर भी वह सक्रिय है ओर अपनी उम्र बढाने की निरत कोशिश कर रही है। क्लासिकल युग के अत के बाद भारतीय साहित्य की प्रवृत्ति जीवन की वास्तविता से मुह फेर लेने की रही है। यथार्थता से भागकर उसने निराधार अध्यात्मवाद और आदर्शवाद की शरण ली है। फल यह हुआ है कि उसके शरीर का रक्त सूख गया है, उसका मानस निष्प्राण हो गया है और उसने पजरबद्ध रूप और जडवादी विचार पद्धति स्वीकार कर ली है।

भारतीय लेखको का यह कर्त्तव्य है कि भारतीय जीवन मे होने वाले परिवर्तनो और देश की प्रगति की स्पिरिट और वैज्ञानिक बुद्धि का अपने साहित्य मे प्रकाश करे। उन्हे साहित्यिक आलोचना की प्रवृत्ति विकसित करनी चाहिए क्योकि वही प्रवृत्ति, परिवार, धर्म, नर नारी, युद्ध और समाज सम्बन्धी प्रतिक्रियावादी अतीतवादी प्रवृत्तियो से सफल लोहा लेगी। जितनी भी साप्रदायिक विद्वेषी और मानव के शोषण की साहित्यिक प्रवृत्तियॉ है, भारतीय लेखक उनका प्रतिकार करेगे।

हमारे सघ का उद्देश्य उन रूढिवादी वर्गो से साहित्य और कलाओ की रक्षा करना होगा, जिनके हाथ मे वे अब तक घिनौनी बनती रही है। उन्हे हमे जनता के मन–प्राण के निकट लाना होगा, उन्हे इतना सजीव बनाना होगा कि वे जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त कर सके और हमे हमारे अभिप्रेत आदर्श तक पहुचा सके।

अपने को भारतीय सभ्यता की समुन्नत और उदात्त परपराओ का वारिस

मानते हुए हम देश के प्रतिक्रियावादी सभी विचारो की उत्कट आलोचना करेगे और हम (देशी–विदेशी दोनो साधनो से) व्याख्यात्मक और सृजनात्मक रचनाओ द्वारा वह सब कुछ करेगे जिससे हमारा देश अपने अभिनव नव जीवन को प्राप्त कर सके। हमारा विश्वास है कि भारत का नया साहित्य तभी सफल और सार्थक होगा जब वह हमारी आज की समस्याओ का हल ढूढेगा–भूख और दद्रिता, सामाजिक अवनति ओर राजनीतिक गुलामी की समस्याओ का हल। जो भी हमे परमुखापेक्षी, निष्क्रिय और तर्कहीन बनाता है, वह सभी हमारे लिए प्रतिक्रियात्मक है और जो भी हममे आलोचात्मक प्रवृत्ति जगाता है, जो बुद्धि और तर्क के प्रकाश मे सस्थाओ ओर परपराओ की समीक्षा करता है, जो भी हमे सक्रिय बनाता, परस्पर सगठित करता है, हमे बदलकर समुन्नत करता है, उस सब को हम प्रगत्यात्मक मानते है।

– 'प्रगति का ऐरावत' शीर्षक निबन्ध मे भगवशरण उपाध्याय द्वारा द्वारा उद्धृत, सकेत, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 247–48।

5 अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक सघ के इलाहाबाद अधिवेशन का घोषणापत्र– (सितम्बर, 1947)

हिदी के प्रगतिशील लेखको का यह सम्मेलन ऐसे अवसर पर हो रहा है जबकि एक ओर हम शताब्दियो की पराधीनता से मुक्त होकर देश के नवनिर्माण की ओर बढ रहे है तो दूसरी ओर परस्पर विद्वेष और हिसा का ऐसा ताडव भारत की इस धरती पर हो रहा है, जैसा उसके लम्बे इतिहास मे पहले कभी नही हुआ। प्रगतिशील लेखक सघ जो अपने जन्मकाल से ही सामाजिक और राजनीतिक पराधीनता से लोहा लेता रहा है, स्वाधीनता के इस अवसर पर जनता का अभिनदन करना है और अब इस बात पर हर्ष प्रकट करता है कि वह अब जनता के सास्कृतिक विकास मे अधिक सहयोग कर सकेगा। इसके साथ ही हम इस बात की ओर सभी हिदी लेखको का

ध्यान आकर्षित करते है कि साप्रदायिक दगो के कारण नई सस्कृति का निर्माण कार्य ही नही, बल्कि अब तक की जितनी सास्कृतिक सम्पत्ति हमने अर्जित की है, उसके लुट जाने का भी खतरा है।

आज अपनी भाषा और साहित्य की तमाम उदार परपराओ को भुलाकर कुछ लोग साहित्य और सस्कृति को जाति, धर्म, मत और सम्प्रदाय की सीमाओ मे बाध देना चाहते है। हम समझते है कि वह उनकी उदार सास्कृति परम्पराओ की रक्षा करे। प्रगतिशील लेखक सबसे आगे बढकर इस साप्रदायिक आग का सामना करेगे। उसके बिना देश के नवनिर्माण और जनता के सास्कृतिक विकास की समस्या कभी हल नही हो सकती।

हम जानते है कि दो सौ साल की साम्राज्यवादी गुलामी की विरासत एक दिन मे खत्म नही हो सकती। देश मे ऐसी प्रतिक्रियावादी शक्तिया हैं जो स्वतत्र भारत मे जनता के अभ्युत्थान को अपने लिए सबसे बडा सकट समझती है। यह स्वाभाविक भी है, क्योकि साम्राज्यवाद ने अपनी जड जमाए रखने के लिए ही इनकी सृष्टि की थी और प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक स्वाधीनता देने पर भी साम्राज्यवाद आशा करता है कि इन सहयोगी शक्तियो के भरोसे वह हमारे सामाजिक और सास्कृतिक जीवन पहले की ही भाति अपना प्रभुत्व कायम रख सकेगा। देश की जनता के अपार बलिदान और लम्बे सघर्ष के बाद जो स्वाधीनता हमने पाई है, उसके फलो से वह हमे वचित रखना चाहता है। यही शक्तिया साप्रदायिक आग को धधकाने मे नितात हृदयहीनता से अपने सम्पूर्ण साधनो का उपयोग कर रही है।

साहित्य के क्षेत्र मे प्रेस और प्रचार के तमाम साधनो पर अधिकार जमा कर वे लेखको की स्वतत्रता और जनवाद की भावनाओ को दबा देना चाहती है। प्रगतिशील लेखक इस बात का बीडा उठाते है कि निरतर और सगठित प्रयोग से इन तमाम शक्तियो का विराध करेगे। उनके प्रभाव से कला साहित्य और सस्कृति का विनाश करने वाली जो प्रवृत्तिया फिर सि उठा रही है और जो जनता मे विद्वेष और निराशा

की भावना भर कर उसे मध्ययुग की ओर ठेल देना चाहती है, इन सब प्रवृत्तियो का भी हम डट कर सामना करेगे।

हमे विश्वास है कि देश मे जनता की राष्ट्रीय सरकार सस्कृति के निर्माण कार्य मे अपनी पूरी शक्ति लगाएगी और इस तरह के सभी कार्यों मे उससे सहयोग करना हम अपना कर्तव्य समझेगे। हम समझते है कि देश की निरक्षरता को दूर किए बिना यह सभव नही है कि हम जनता के सास्कृतिक धरातल को ऊँचा कर सके। इसके लिए हम सभी हिदी लेखको से अपील करते है कि वे साक्षरता बढाने और जनता के सास्कृतिक धरातल को ऊँचा करने मे सबसे आगे बढ कर हिस्सा ले। इसके बिना हमारा साहित्य सपूर्ण जनता का साहित्य नही बन सकता और वह देश के नव निर्माण मे अपनी महान ऐतिहासिक भूमिका भी पूरी नही कर सकता।

हमारी भाषा और साहित्य ने बडे–बडे कठिन सघर्षों का सामना किया है। उसमे उतनी जीवन शक्ति है कि उसे आज की विषम परिथतियो पर भी विजय मिलेगी। स्वाधीनता की वेदी पर अनेक शहीदो के रक्त बहने से जो स्वाधीनता हमे मिली है, उसके फलो से हमे कोई वचित नही रख सकता। देश मे एकता और जनतत्र स्थापित करने मे हिदी के लेखक कभी पीछे नही रहेगे और प्रगतिशील लेखक सघ तथा दलो, सभी पार्टियो का आवहान करता है कि वे सघ मे आए और इस कार्य मे हमारा हाथ बटाए।

हमे विश्वास है कि इस प्रकार सबके सम्मिलित प्रयत्न से हम हिदी के नए साहित्य को भी विश्वबधु तुलसी और सूर की महान परपरा के योग्य बना सकेगे।

6. अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ के भिवडी अधिवेशन का घोषणा–पत्र .

(मई, 1949)

आज भारतीय साहित्य के विकास मे निर्णायक परिवर्तन हो रहे है। पहले की अपेक्षा कही ज्यादा तीक्ष्ण रूप मे प्रगतिशील और प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियॉ। एक दूसरे के

मुकाबले पर खडी है। दूसरे इस बात का पता चलता है कि भारतीय जनता की जनतत्र और समाजवाद की लडाई ने एक बडा मोड लिया है।

अगस्त 1947 के बाद भारतीय जनता की स्वाधीनता की लडाई एक नए दौर मे दाखिल हुई है। भारतीय पूँजीपतिवर्ग, जो राष्ट्रीय आदोलन के काल मे सदा साम्राज्यवाद से समझौता किया करता था, अब खुले आम उसका गठबधन साम्राज्यवाद से हो गया है। ब्रिटिश कामनवेन्थ मे बने रहने का जो निश्चय भारतीय सरकार ने किया है, वह इस गठबधन की ही चरम परिणति है। यह समझौता भारतीय जनता की इस इच्छा का विरोधी है कि इस देश मे एक पूर्ण स्वतत्र, सार्वभौम प्रजातात्रिक राज्य स्थापित किया जाए।

फासिज्म के खिलाफ जीत होकर युद्ध खत्म हुआ और एक नया दौर शुरू हुआ मगर इस नए दौर मे भारतीय जनता फिर अपने आपको एक तीसरे महायुद्ध की तैयारियो के बीच घिरा हुआ पाती है। सोवियत यूनियन के नेतृत्व मे जनवादी शक्तियो को फासिज्म पर जो विजय मिली है, उसेसे शाति, जनतत्र और समाजवाद की शक्तियाँ बहुत मजबूत हुई है। लेकिन तब भी ऐंग्लो–अमरीकी साम्राज्यवादी अपने युद्धकालीन मुनाफे को कायम रखने और बढाने के लिए दुनिया की जनता को डालर और एटमबम के गुलाम बनाने की योजनाए तैयार कर रहे है। गहरा होता हुआ आर्थिक सकट, जनता की जिदगी के स्टैडर्ड मे कटौती, अमानुषिक शोषण के खिलाफ मेहनतकश वर्ग का बढता हुआ प्रतिरोध–इन सबको सभी देशो के पूँजीपति युद्ध मे डुबो देना चाहते है। सोवियत रूस, यूरोप के नए जनतत्र और और एशियाई जनता की आजादी की लडाई के खिलाफ कुत्सित झूठ का प्रचार करके लोगो के दिमागो को इस तीसरे महायुद्ध के लिए तैयार किया जा रहा है। मलय की जनता के खिलाफ तो यो भी साम्राज्यवाद ने जग छेड रखी है और वर्मी इडोनेशियाइ और वियतनामी जनता की आजादी की लडाई मे हस्तक्षेप कर रहा है।,

भारतीय पूँजीपति वर्ग और उसकी प्रतिनिधि सरकार जनता पर आतक का राज कायम करने की कोशिश कर रही है। हजारो मजदूर, किसान, लेखक और कलाकार जेलो मे सड रहे है, अकथ्य मुसीबते उठा रहे है जबकि सरकार ने उन पर मुकदमा चलाकर उन्हे सजा कराने की भी जरूरत नही समझी। शोषक वर्गो के स्वार्थो की रक्षा करके, दुनिया के जनवादी आदोलन के खिलाफ ऐंग्लो–अमरीकी साम्राज्यवादी हिदुस्तान को कामनवेल्थ की एक कडी के रूप मे युद्ध का अड्डा बनाने की जो कोशिश कर रहे है उसे अनदेखा करके जनता के बुनियादी नागरिक अधिकारो को कुचलकर मजदूरो, किसानो और मध्यवर्गीय जनता के बढते हुए आदोलन पर वहशियाना हमला करके काग्रेस सरकारो ने यह दिखा दिया है कि सस्कृति और साहित्य के प्रति उनका भी वही रवैया है जो इटली और जर्मनी के फासिस्टो का था। वे सोवियत फिल्मो पर रोक लगा रहे है और एक ओर तो तनिक भी प्रगतिशील फिल्मो के निर्माण और प्रदर्शन की राह मे हर तरह के रोडे अटका रहे है और दूसरी ओर पाश्चात्य देशो विशेषकर अमरीका की बनी पतनशील जनविरोधी फिल्मो की खुली छूट दे रहे है। वे शाति सम्मेलन के लिए दि गए पासपोर्ट रद्द कर रहे है और इस तरह दूसरे देशो के सास्कृतिक और सामाजिक आदोलन से सपर्क पैदा करने की राह मे रोडे अटका रहे है। वे जनवादी पत्र पत्रिकाओ पर पाबदियो और रोक लगा रहे है और उसके साथ ही साथ उन्होने भारतीय समाचार पत्रो पर विदेशी न्यूज एजेसियो औष्र बडे भारतीय पूजीपतियो का अधिकार पूरी तरह को जाने दिया है। इस सबसे यह भलीभाति स्पष्ट है कि प्रगतिवादी लेखको को लिखने–बोलने की आजादी, जनवादी पत्र–पत्रिकाओ के अस्तित्व और जीने योग्य मजदूरी और शिक्षा व सस्कृति के लिए लडने के जनता के अधिकार के पक्ष मे लडना होगा।

हमारी आजादी की लडाई के इस दौर मे आधुनिक साहित्य के भी लेखक साफ–साफ दो खेमो मे बट गए है। एक खेमे मे है वे लेखक जो युद्ध और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के दुश्मन है, जो शाति और जनवाद की शक्तियो के कधे के

कधा मिलाए खडे है और जो हमारे पुराने साम्राज्यविरोधी साहित्य की सबसे अच्छी परपराओ को आगे ले जा रहे है। दूसरे खेमे मे है वे लेखक जो हिन्दुस्तान को साम्राज्यवाद का पिछलग्गू बनाए रखना चाहते है और जनता के खिलाफ इस पूॅजीवादी सरकार के हिस्र दमन की वकालत करते है, जो दुनिया की जनवादी शक्तियो पर कीचड उछालते है और जो हमारे पुराने देशभक्तिपूर्ण साहित्य की सर्वश्रेष्ठ परपराओ पर थूकते है। साहित्य मे इन दो ध्रवो की दूरी के बीच कोई समझौता सभव नही है। जो लोग कहते है कि वे दोनो से अलग और तटस्थ है वे प्रगतिविरोधी लेखको के समाजविरोधी रूप को छिपाते है और उसके बारे मे जनता को धोखे मे रखने मे ही मदद पहुचाते है।

लोगो को धोखा देने, उनके दिमाग मे उलझन पैदा करने और उनके ध्यान को आज की तुरत समाधान मागने वाली सामाजिक समस्याओ पर से हटाने के लिए भारत का शासक वर्ग बडे सूक्ष्म सैद्धान्तिक तरीके निकालता है। उसके भाडे के कलम घसीटने वाले 'कला कला के लिए' का नारा देते है, साहित्य के अदर व्यक्तिवादी और पतनशील प्रवृत्तियो को ऊॅचे चढाते है और कामोत्तेजक, अश्लील, रोमाचकारी और राजनीतिक दृष्टि से हीन साहित्य की रचना करते है। वे यह कुत्सित प्रचार से ही साहित्य की रचना करते है। वे यह कुत्सित प्रचार करते है, कि समाजवाद का मतलब यह होगा कि लेखक की आजादी छिन जाएगी ओर यह कि सोवियत रूस मे लेखक को कोई आजादी नही है और वहॉ जो साहित्य पैदा होता है वह स्वतत्र नही है, हुक्म देकर तैयार किया हुआ है। वे जनता को यह कहकर बरगलाते है कि प्रचीनकाल मे भारत को जो महत्ता प्राप्त हुई वह इसलिए कि उसने वर्ग सघर्ष को प्रश्रय नही दिया और अगर हम चाहते है कि भारत फिर अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त हो तो लोगो को अहिसा और वर्गसाहचर्य के रास्ते पर चलना चाहिए।

इन सब प्रश्नो पर प्रगतिशील लेखको की स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है। साहित्य

की पतनशील रूपवादी, व्यक्तिवादी प्रवृत्तिया सीधे शोषक वर्ग को फायदा पहुँचाती है इस पतनशील साहित्य का अराजनीतिक रूप वास्तव मे उसकी प्रगति विरोधी प्रकृति को छिपाने का एक नकाब है और उसका असल उद्देश्य लोगो के दिमाग को को खराब करना और उसे अफीम पिलाकर सुलाना है पूँजीवादी समाज मे जनवादी लेखको का तनिक भी लिखने की आजादी नही है। सोवियत यूनियन की समाजवादी व्यवस्था मे जनता को लूटने की पूँजीपतियो की आजादी छिन गई है, इसीलिए जनवादी लेखक सच्चे अर्थो मे आजाद है और उसका साहित्य दुनिया के प्रगतिशील साहित्य मे सबसे आगे है।

प्रगतिशील लेखक प्राचीन साहित्य और सस्कृति के सच्चे उत्तराधिकारी है और मानव सभ्यता की सर्वेश्रेष्ठ परपराओ को आगे से जाते है। वे आज के समाज के ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि मे अपनी प्राचीन सस्कृतिक निधि का आलोचनात्मक दृष्टि से लेखा लिखा करते है। वे सस्कृति को साम्राज्यलिप्सा और थोथे रहस्यवाद का पर्याय बनाने से इनकार करते है और जो लोग ऐसा करने की कोशिश करते है उनका वे पर्दाफाश करते है और दिखलाते है कि ऐसा करने मे उनका असल उद्देश्य क्या है। उनका तर्क है कि अपने साहित्य मे अतीतमुखी प्रवृत्तियो को न आने दे।

प्रगतिशील लेखको का यह विश्वास है कि शोषको और शोषितो मे साहचर्य नही हो सकता और इस सबध मे सत्य और अहिसा की बात करना पूँजीवादी शोषण के वर्ग–रूप को छिपाना है।

अपने आन्दोलन के प्रारभ से ही प्रगतिशील लेखको ने साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के खिलाफ निर्मम, बिना किसी प्रकार के समझौते की लडाई चलाने का नारा दिया है और उन्होने सामान्य जनता को ही इसकी असल प्रेरक शक्ति के रूप मे देखा है। सन् 1934 मे काग्रेस के भद्र अवज्ञा आदोलन की असफलता और फिर

ब्रिटिश राज मे काग्रेस का मिनिस्ट्री बनाना, इससे राष्ट्रीय नेतृत्व की नीति के बारे मे जनता के बहुत बडे हिस्से का भ्रम टूटा, इधर से उसे निराशा हुई और वह साम्राज्यवाद से बिना समझौता किए अत तक लडाई चलाने के लिए अपने लोकप्रिय वर्ग सगठनो मे एकत्र और सगठित होने लगी। साम्राज्यवाद से किसी तरह का कोई समझौता या सधि नही होनी चाहिए, जनता की यह आकाक्षा इस काल के साहित्य मे खूब अच्छी तरह प्रतिबिबित है। इसी आकाक्षा को सगठित अभिव्यक्ति मिली प्रगतिशील लेखक आदोलन मे। साम्राज्यविरोधी सघर्ष मे साहित्य निष्क्रिय नही रह सकता, उसे पूर्ण स्वाधीनता और जनतत्र की लडाई मे जनता को जगाना चाहिए, प्रेरणा देनी चाहिए, राह दिखानी चाहिए, उसे साधारण जनता की आकाक्षाओ का चित्रण करना चाहिए उस जनता का जिसका शोषण केवल विदेशी साम्रज्यवाद ही नही बल्कि देशी पूँजीपति, राजे–रजवाढे, जमीदार–जागीरदार सब करते है। नए प्रगतिशील साहित्य का यही लक्ष्य था।

पिछले दशक के भारतीय साहित्य के विकास को मुडकर देखने पर हम गर्व के साथ कह सकते है कि प्रगतिशील लेखकोने नही और सभी लेखको की अपेक्षा ज्यादा अच्दी तरह हमारी स्वाधीनता की लडाई के अलग अलग दौरो और मोडो को चित्रित किया है। उन्होने दृढतापूर्वक फासिज्म के विरोध मे जो दुनिया को गुलाम बनाना चाहता था, आवाज उठाई। उन्होने फासिज्म के विरूद्ध लडाई मे सोवियत जनता का साथ दिया, जापानी फासिज्म के विरूद्ध मे चीनी जनता का साथ दिया। उन्होने बगाल के भीषण अकाल के समय उसको मदद पहुचाने के लिए जनमत को सगठित किया और आजादी की उस महान लडाई मे जनता के कधे से कधा मिलाकर खडे रहे जिसका प्रखरतम रूप जहाजियो की बगावत था वे ही थे जिन्होने उस समय भी जनता की एकता और शाति का झडा झुकने नही दिया जिस समय सभी पूजीवादी समाचार पत्र देश के अदर होने वाले साप्रदायिक नरमेव और दगो मे हाथ बटा रहे थे।

यह सब होते हुए भी यह कहना जरूरी है कि प्रगतिशील साहित्य भी दोषो से मुक्त नही रहा है ओर हम उसे और भी उन्नत तभी कर सकते है जब हम इन दोषो को समझे और उन पर विजय पाए। इस दौर मे तमाम प्रगतिशील साहित्य मे जो सबसे बडी कमजोरी रही है वह यही कि प्रगतिशील लेखको का लगाव जनता से, जिसकी अगुआई मजदूर श्रेणी कर रहे है, काफी नही रहा है। यही कारण है कि किसानो और मजदूरो के जीवन और सघर्ष के सबध रखने वाला रचनात्मक साहित्य परिमाण मे इतना थोडा है। यही कारण है कि प्रगतिवादी साहित्यिक आलोचना स्वस्थ्य जनता के साहित्य के विकास का विरोध करने वाली अनेक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो को जड से उखाड नही पाई। प्रगतिशील लेखको ने कभी कभी रोमाटिक और पतनशील लेखको के सिद्धान्त और प्रयोग से समझौता भी किया है स्वय प्रगतिशील साहित्य की आलोचना बेलाग ढग से नही कर पाए है।

स्वतत्र आदमी की जिदगी, पूरी आजादी और आदमी द्वारा आदमी के हर प्रकार के शोषण के अत के लिए लडने वाली साधारण जनता से अलग हटकर भारतीय साहित्य का कोइ भविष्य नही है, उस साधारण जनता से अलग हटकर जो आज मजदूर श्रेणी के नेतृत्व मे जनतत्र और समाजवाद के लिए लड रही है हमारे लेखक इस आदोलन के जितना पास आवेगे उनका साहित्य रूप और प्राण दोनो दृष्टि ही दृष्टियो से उतना ही श्रेष्ठ होगा।

साधारण जनता के हितो का विरोध करने वाली प्रतिक्रियावादी साहित्यिक प्रवृत्तियो का अत निश्चित है। केवल जनता के साहित्य का भविष्य उज्जवल है, आज उसकी राह मे चाहे जो अडचने हो।

कोई साहित्य तब तक कि उसका कोई ऊचा सामाजिक उद्‌देश्य नही हो, महान और हमारी जनता के आदर का अधिकारी नही हो सकता। मानवता के जो ऊचे से ऊंचे आदर्श है जैसे शाति, प्रेम, राष्ट्रो मे परस्पर सहयोग, युद्ध और मानव

शोषण का विरोधी मानवतावाद, उनसे प्रगतिशील साहित्य को प्रेरणा मिलेगी। साहित्य का महान नैतिक उद्देश्य सभी लेखको से यह माग करता है कि वे अपने साहित्य को प्रभावोत्पादक, लोकप्रिय और सुदर बनाए जिससे हमारी जनता उसे प्यार करे, उससे प्रेरणा ले और उस पर गर्व करे। जनता की सस्कृति और साहित्य का भविष्य उनके हाथो मे है उन्हे अपने कार्य के लिए यह सिद्ध करना है कि भविष्य योग्य हाथो मे है।

(नया साहित्य जुलाई 1949)

7. प्रगतिशील लेखक सघ के दिल्ली अधिवेशन का घोषणा—पत्र

भारत के लोग चाहते है कि उनके साहित्य और कला का विकास उनकी राष्ट्रीय परपरा के अनुसार हो। तमाम देशभक्त लेखक और और कलाकार उनकी इस उचित भावना को सतुष्ट करने का प्रयत्न करते है। उन्हे अपनी सास्कृतिक विरासत पर गर्व है। उस बिरासत मे जो कुछ सुदर और महान है, उसे वे अपने सृजनाकार्य से आगे बढाना चाहते है, उसमे जो कुछ निकृष्ट और मिथ्या है, उसे वे छोड देना चाहते है।

हमारी जनता अपने जीवन को स्वाधीनता और समृद्धता बनाने के लिए प्रयत्नशील है। वह दुनिया के तमाम राष्ट्रो के साथ शाति और मित्रता के सबध स्थापित करने की इच्छुक है। हमारा साहित्य मानवता की भावना, जीवन मे आस्था औष्र उज्जवल भविष्य की आशा से ओतप्रोत होना चाहिए।

मनुष्य की सृजनशक्ति के प्रति घृणा, एक जाति या राष्ट्र का दूसरे पर शासन, जातिवाद और साप्रदायिकता हमारी जनता की स्वस्थ्य परपराओ के विपरीत है। जीवन उद्देश्य का अभाव, निराशावाद, छायावाद और भाग्यवाद हमारे सास्कृतिक विकास मे बाधक है। हम जासूसी, हत्या, छायावाद और अश्लीलता के साहित्य का विरोध करते है।

हमारा साहित्य कलात्मक हो, इसका रूप राष्ट्रीय तथा लोकप्रिय हो। हम ऐसी सुविधाए चाहते है जिनसे हमारे देश की सभी भाषाओ का साहित्य फूलेफले।

हम चाहते है कि लेखक जनता की सेवा के लिए सगठित हो अपनी रचनाओ द्वारा सुखी और समृद्ध जीवन की प्राप्ति मे सहायक बने।

(प्रस्तुत विवरण प्रगतिवाद और समनान्तर साहित्य से लिया गया है) पृ०स० 314-326

*** *** ***

द्वितीय-अध्याय

मार्क्सवाद और प्रगतिवाद

मार्क्सवाद और प्रगतिवाद

वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता मार्क्स तथा ऐगेल्स को कहा जाता है। इन दोनो ने मिल कर समाज मे जीवन के प्रति नये दृष्टिकोण का उदघाटन किया, जो प्राय पहले प्रचलित सभी समाजवादी विचारधाराओ से अलग था। मार्क्स ने कभी भी समाज के एकागी विकास की बात नही की और न ही कोरे सुधार की बात की, बल्कि एक वैज्ञानिक अध्ययन करके, समस्याओ के मूल मे पहुॅच करके उसकी परिभाषा देते हुए, कारण, फिर उसका निदान प्रस्तुत कर मार्क्सवाद का विकास किया। जिसका अपना एक दर्शन है। उसके अपने कुछ सिद्धान्त थे। मार्क्स ने अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र का गहन अध्ययन कर कुछ निष्कर्ष प्राप्त किये।

1 समाज मे मुख्यत दो वर्ग होते है, शोषक व शोषित

2 समाजिक विषमता की जड आर्थिक अव्यवस्था है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद . द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही मार्क्स तथा मार्क्सवादियो की काव्य विषयक मान्यताओ का प्रमुख आधार है। मनुष्य तथा प्रकृति के सम्पूर्ण क्रियाकलापो को समझने का जो माक्सवादी दृष्टिकोण है, उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दो शब्दो से मिल कर बना है, पहला द्वन्द्वात्मक दूसरा भौतिकवाद।

ससार का निर्माण वस्तुत दो विपरीत पदार्थों के द्वन्द्व से शुद्ध भौतिक वस्तुओ द्वारा हुआ है। जिसमे सतत् विकास होता रहता है, यह द्वन्द्व की प्रक्रिया समाज के हर क्षेत्र मे देखी जा सकती है, अत मार्क्स ने इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा।

मार्क्स के अनुसार द्वन्द्ववाद और कुछ नही, वरन् वाह्य जगत् तथा मानवीय

विचारो से सम्बन्धित गति के सामान्य नियमो का विज्ञान है। भारिस कार्वफार्थ के अनुसार–''द्वन्द्ववाद की शुरूआत ही यह समस्या है कि कैसे वस्तुये व प्रतिक्रियाये अनिवार्य रूप से परस्पर सबद्ध होती है।[1]

वि० अफनास्येव का कथन है कि–''ज्ञान के मार्क्सवादी सिद्धान्त का भौतिक निरालापन इस बात मे है कि वह सज्ञान की प्रक्रिया को व्यवहार पर, जनता के भौतिक उत्पादन सम्बन्धी कार्यकलाप पर आधारित रहता है।''

मार्क्स समस्त प्रकृति व जीवन को निरन्तर गतिशील मानते है। जो सतत् परिवर्तनशील है और अधपतन एव अध उत्पादन की ओर उन्मुख है। छोटी से छोटी वस्तु से लेकर बडी से बडी वस्तु तक बालू के कण से सूर्य तक, छोटे से जीव कोस से लेकर मनुष्य तक सपूर्ण प्रकृति सतत् गतिमय और परिवर्तनशील है। उसकी स्थिति निर्माण और विनाश की अविराम प्रवाह मे है।[2] प्रकृति जो मोटी दृष्टि से देखने मे स्थिर दिखाई देती है, वस्तुत वह प्रति क्षण गतिशील है। पेड पौधे जो निरन्तर परिवर्तनशील है हमे उनमे परिवर्तन नही दिखाई पडता है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनमे प्रतिक्षण कोषिकाओ के विनष्ट होने व नयी बनने की क्रिया प्रतिक्रिया सतत चलती रहती है। ऐन्गेल्स ने द्वन्द्ववान की व्याख्या करते हुए अपनी पुस्तक ''डयूहरिंग मत खण्डन'' मे लिखा है कि–'द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव–समाज और विचारो के विकास एव गतिशीलता से सम्बन्धित सामान्य नियमो के विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही है।[3] इसी परिवर्तन को जयशकर प्रसाद जी ने अपने महाकाव्य 'कामायनी' मे यूँ कहा है–

पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृत पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द किये है परिवर्तन मे टेक।

---

1 मार्क्सवादी साहित्य चितन इतिहास तथा सिद्धान्त–शिवकुमार मिश्र।

2 मार्क्स एगिल्स सिलेक्टेड वर्क्स इन्ट्रोडेक्शन टू डाईलेक्टिस आफ नेचर, एगेल्स भाग–II मास्को–जनेश्वर वर्मा–हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी विचारधारा से लिया गया।

3 एफ० एगेल्स–एण्टी डारिंग पेज 160

निरन्तर परिवर्तनशील प्रकृति का रहस्य क्या है? निश्चय ही इसके अन्तर मे कोई नियम कार्य कर रहा है। जिससे सभी क्रिया व्यापार सचालित हो रहे है। गति तभी उत्पन्न होती है जब दो विरोधी शक्तियो का मिलन होता है। और फिर आपस मे सघर्ष की स्थिति आ जाती है। विरोधी जब मिलेगे तो सघर्ष अवश्य होगा, और सघर्ष नये स्वरूप, नयी गति, और नयी परिस्थिति को जन्म देगा, अर्थात विकास होगा। इस प्रकार विरोधो के सघर्ष का नाम ही गति या विकास है।

ससार की प्रत्येक वस्तु विकास की अवस्था मे है। गति वस्तु अथवा पदार्थ का अनिवार्य गुण है। पदार्थ व गति एक दूसरे से इस प्रकार बधे है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती। एगेल्स के अनुसार गति ही पदार्थ के अस्तित्व का आधार है।

किसी भी वस्तु की स्थिरता उसकी मरणावस्था है। अत पदार्थ प्रत्येक वस्तु की गति या निरन्तर परिवर्तन द्वारा ही समझा जा सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यही मूलाधार है। एगेल्स ने इसी गति व परिवर्तन पर जोर दिया है। जिसे अध्ययन व प्रयोग के बाद सिद्ध किया गया है। एगेल्स का मत है–पदार्थ न तो कभी गतिहीन रहा है और न कभी गतिहीन हो सकता है। गतिहीन पदार्थ की कल्पना उसी प्रकार नही की जा सकती जिस प्रकार पदार्थ रहित गति की। एक व्यक्ति अपना विचार रखता है दूसरा उसका विरोध करता है। फिर पहला उसकी बात का विरोध करता है। इस प्रकार एक नई बात सामने आती है जिसकी दोनो ने ही बात नही की थी, फिर वह नयी मान्यता विकास पाती है। अत विरोध मे ही विकास की नयी प्रक्रिया निवास करती है। मार्क्सवाद के आधुनिक व्याख्याता माओ के मत मे भी विरोध, सभी वस्तुओ के विकास की प्रक्रिया मे विद्यमान रहता है। इस प्रकार वस्तु के विकास की प्रक्रिया मे आद्योपान्त यह विरोध बना रहता है। इसी को विरोधी समागम

की सारभौमता कहा जाता है।[1] राहुल साकृत्यायन के अनुसार एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुचने की गति सर्प के समान न हो कर मेढक के समान होती है। सर्प रेग कर चलता है, अत उससे पृथ्वी के स्थानो का स्पर्श होता है। किन्तु मेढक एक स्थान से दूसरे स्थान पर एकाएक उछल कर पहुच जाता है। गुणात्मक परिवर्तन की गति भी ऐसी होती है। इसी परिवर्तन के नियम के आधार पर मार्क्सवादी सामाजिक क्राति का समर्थन करते है। पूजीवादी सामाजिक व्यवस्था मे असतोष की मात्रा धीरे–धीरे बढती रहती है, और सहसा क्राति का रूप धारण करके विस्फोट कर देती है। जिसमे सभी पुरानी मान्यताये व परम्पराये नष्ट हो जाती है। और उनका स्थान नवीन मान्यताये ले लेती है। मार्क्सवाद इसी सामाजिक क्रान्ति का पक्षधर है। इसी बात को आचार्य नरेन्द्र देव ने अपने शब्दो मे व्यक्त किया है जिस प्रकार बच्चा मॉ के गर्भ मे बढता है। किन्तु नौ माह के उपरान्त एक दिन वह अचानक माता को भयकर प्रसव पीडा देते हुए बाहर निकल पडता है, उसी प्रकार पुराने समाज के भीतर नये समाज की अवस्थाये जब परिपक्व हो जाती है तो अचानक क्राति के द्वारा नये समाज का जम्भ होता है, क्राति नये समाज की प्रसव वेदना है। एक समाज से नये उन्नत समाज की ओर जाने के लिये क्रान्ति एक अनिवार्य सीढी है।'

विरोधी शक्तियो का सघर्ष ही विकास का मूल कारण है। प्रत्येक व्यवस्था के अन्तर मे कुछ असगतिया विद्यमान होती है। प्रत्येक व्यवस्था अपने गर्भ मे असगतियो के रूप मे विनाश के बीज लिये रहती है। ठीक इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था मे भी असगतिया धीरे–धीरे बढती रहती है और समाज इन असगतियो के भार को ढोने मे असमर्थ हो जाता है तो क्रान्ति का ज्वार आ जाता है। एक विस्फोट होता है और यह क्राति एक दूसरी व्यवस्था को जन्म देती है। इस प्रकार एक व्यवस्था का विनाश तथा दूसरी व्यवस्था का उत्थान, फिर उसका नाश तीसरी व्यवस्था का उत्थान

---

1 राहुल साकृत्यायन–वैज्ञानिक भौतिकवाद–पृ० 26,

यह क्रम चलता रहता है। जैसी परिस्थितिया होती है उन्ही के अनुरूप व्यवस्था स्वीकार्य होती है। परन्तु परिस्थितियो के प्रतिकूल होने पर वही व्यवस्था जो एक समय उपयोगी थी, दूसरे समय मे रूढि बन जाती है, और समाज के लिए कलक बन जाती है, यथा–सती प्रथा कुछ समय पहले समाज के लिये उपयोगी थी (शायद इसीलिये इसका विकास हुआ) यदि इसका विकास न होता तो समाज मे अराजकता फैल जाती, और उसका मूल ढाचा ही चरमरा जाता, यह उस समय की परिस्थिति की माग थी। किन्तु आज सती प्रथा समाज के लिए एक जघन्य अपराध है। अत इससे विदित होता है कि परिस्थितिया ही सिद्धान्तो का निर्माण करती है। सत्य त्रिकाल अबाधित है, पर एक समय का बोला गया सत्य किसी की जान बचा सकता है तो दूसरे स्थान पर यह सत्य किसी की जान ले भी सकता है। इससे ज्ञात होता है कि कोई सिद्धान्त स्थिर नही होता न ही किसी की कोई निश्चित गति होती है। ये तो निरन्तर युग सापेक्ष होता है, परिवर्तनशील होता है, परिस्थितियो के अधीन होता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अन्तर्गत मार्क्स ने 'प्रतिषेध का प्रतिषेध' की अवस्था की भी व्याख्या की है। प्रतिषेध से तात्पर्य–विनष्ट–विलीन वस्तु की स्थानापन्य वस्तु से है। इसे दूसरे रूप मे हम यो कह सकते है–यदि कोई वस्तु की पहली अवस्था नष्ट हो जाय और उसके स्थान पर उसी वस्तु से कोई नयी वस्तु बन जाय तो इसे ही प्रतिषेध की अवस्था कहेगे। और दूसरी वस्तु के नष्ट होने पर जब तीसरी वस्तु का विकास हो तो उस उत्पन्न तीसरी वस्तु को या उस अवस्था को हम–''प्रतिषेध का प्रतिषेध नियम'' कहेगे।

जब कोई अवस्था अपने अन्दर विनाशशील असगतियो को बढा लेती है, तो उस जर्जरित व्यवस्था का चरमरा कर धराशायी होना अवश्यभावी हो जाता है, और उसी से कुछ उपयोगी सिद्धान्तो को लेते हुए नयी व्यवस्था जन्म लेती है। और उसके

भी जर्जरित होने पर एक नयी तीसरी व्यवस्था जन्म लेती है। यह सतत् चलता रहता है और निरन्तर प्रगति करता जाता है। अत द्वन्द्ववादी मान्यता के अनुसार–निषेध का आशय केवल यह नही है कि हम किसी वस्तु को मनमाने ढग से मिटा दे, या उसके अनस्तित्व मात्र की घोषणा कर दे। हमे प्रतिषेध के प्रथम भाग को इस प्रकार सम्पन्न करना चाहिए कि द्वितीय अवस्था भी सभव हो सके।[1] इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिषेध का प्रतिषेध नियम तब बनेगा, जब प्रथम स्थिति या वस्तु का विनाश होकर दूसरी वस्तु या स्थिति का विकास इस प्रकार हो कि प्रथम वस्तु का अस्तित्व पूरी तरह विनष्ट न हो जाय, ताकि उसकी तीसरी अवस्था भी सभव हो सके। यदि प्रथम वस्तु का नाश पूर्ण रूप से हो गया और उससे दूसरी वस्तु का निर्माण हो गया तो प्रतिषेध तो हुआ परन्तु अब प्रथम वस्तु का अस्तित्व न बच पाने से या फिर उसका नाश होने से तीसरी वस्तु का निर्माण नही हो सकता। अत 'प्रतिषेध का प्रतिषेध' नही हो सकता है। इसे सरलता से समझाया जा सकता है। यथा–एक बीज बोया गया वह अपना अस्तित्व मिटा कर पेड बन गया, वह पेड पत्तो, फूलो और बीज मे फिर परिणत हो गया, तो यह 'प्रतिषेध का प्रतिषेध' नियम हुआ। परन्तु उसी बीज को भून कर कोई खास वस्तु बना दी गयी, तो पहली अवस्था तो सभव हो गयी अर्थात प्रतिषेध तो हो गया, किन्तु वह पूर्णरूपेण नष्ट होने से तीसरी अवस्था को जन्म नही दे सकता। अत 'प्रतिषेध का प्रतिषेध' नियम लागू नही हो सकता, इसी ओर ऐंगेल्स ने काफी ध्यान आकृष्ट किया है।

जैसे–जैसे विज्ञान का विकास हुआ मानव प्रत्येक वस्तु या सिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर कस कर पूर्ण आस्वस्थ हो कर उसे मान्यता प्रदान करने लगा। धर्म को श्रद्धा व विश्वास की वस्तु समझा जाने लगा। धर्म उस समय विकसित हुआ, जब आदिम मनुष्य मे ज्ञान का अभाव था, प्रकृति के विनाश को देख कर उसे अजेय

1 एफ एन्गेल्स– एन्टी डाउरिंग पृ० 160–जनेश्वर वर्मा हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी चेतना से उद्धृत।

समझ कर मनुष्य उसकी पूजा, अर्चना करने लगा, और स्वय को ईश्वर का अश मान लिया। अर्थात् ससार का निर्माता ईश्वर को माना, ईश्वर ही इस जन्म व विनाश का अन्तिम कारण है अत यह विश्वास मनुष्य को भौतिक जगत से दूर पारलौकिता की ओर ले गया, इस प्रकार मनुष्य ने वस्तु के स्थान पर विचार को श्रेष्ठ माना।

दूसरी ओर भौतिकवादी इस सृष्टि को शाश्वत मानते है। जो कुछ दिखाई दे, वह सत्य है जो इन्द्रियगम्य हो वह सत्य है आत्मा शरीर का ही एक अग है मस्तिष्क उसकी कार्यशाला है। यही से विचार उत्पन्न होते है। हम जो कुछ देखते है उन्ही को देख कर हममे विचार उत्पन्न होता है। अत वस्तु प्रधान है, और विचार उस को देखने से उत्पन्न होता है। इन मान्यताओ को मनुष्य ने विज्ञान की कसौटी पर कसा और इन्द्रियानुभव को सत्य साबित कर दिया। जबकि दूसरी ओर आत्मवादी किसी तथ्य को सिद्ध नही कर सकते वे सिर्फ इसका अनुभव कर सकते है।

विज्ञान की उन्नति जैसे–जैसे बढती गयी पुरानी मान्यताये कोरी साबित होती गयी, अनेक यन्त्रो के अविष्कार से सदियो से पलती मिथ्या धारणाओ को पूरी तरह बेनकाब कर दिया, डार्मिन ने अपने जीवन विकास के सिद्धान्तो से विचारो मे क्राति ला दी और जड चेतन की सीमाओ को बहुत करीब कर दिया।

इन भौतिकवादियो का विचार था, इस ससार को किसी देवता या मनुष्य ने नही बनाया है, वरन् वह एक सप्राण ज्योति है, जो कभी थी, है और रहेगी, वह नियमित रूप से जल उठती है, और नियमित रूप से ठडी हो जाती है।[1]

प्रकृति के बारे मे भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रकृति के किसी वाह्य मिश्रण के बिना, ठीक जिस प्रकार उसका अस्तित्व है, उस रूप मे ग्रहण करने से अधिक और कुछ नही। प्रकृति की वास्तविक एकता उसकी भौतिकता मे सन्निहित है। यह दर्शन प्रकृति विज्ञान के लम्बे व विरल विकास द्वारा प्रमाणित है। गति–द्रव्य के अस्तित्व की

---

1 सोवियत सघ की कम्युनिष्ट पार्टी का इतिहास–पृष्ठ–122

दशा है। बिना गति के कभी द्रव्य रहा ही नही, न द्रव्य के बिना गति रही, और न ऐसा सभव ही है।'

मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन की व्याख्या करते हुए (पदार्थ) भूत के बारे मे, लेनिन ने कहा था, पदार्थ वह है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियो पर आघात करके सवेदना उत्पन्न करता है। पदार्थ वह वस्तुगत वैज्ञानिक सत्य है जो हमे सवेदना से प्राप्त होता है। भौतिक जगत्, पदार्थ सत्ता, जो कुछ भी प्राकृतिक है वह मूल है, आत्मा, चेतन, सवेदना, जो कुछ भी मानसिक है वह गौण है।[1]

ऐतिहासिक भौतिकवाद : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तो का जब इतिहास पर आरोप किया जाता है तो उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते है। मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तनो तथा राजनीतिक क्रातियो का कारण दार्शनिक नही वरन् उस युग की आर्थिक परिस्थितियो को बताया। ऐतिहासिक भौतकवाद के अनुसार आर्थिक परिस्थितिया ही सामाजिक व्यवस्थाओ की मूलाधार है। प्रत्येक व्यवस्था के मूल मे 'अर्थ' काम करता है। इस प्रकार सामाजिक सस्थाओ के उद्गम सम्बन्ध व उसके विकास आदि पर महत्वपूर्ण सिद्धान्त दिये, जो नितान्त वैज्ञानिक और तर्क सम्मत थे। यह ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्सवाद की एक विशेषता है। जिस प्रकार प्रकृति मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियम से परिवर्तन होते है, उसी प्रकार सामाजिक व्यवस्थाओ मे भी समस्त परिवर्तन इसी सिद्धान्त के अनुसार होते है। प्रत्येक व्यवस्था मे असगतियॉ विद्यमान रहती है। यही असगतियॉ एक दिन बढते–बढते इस अवस्था का नाश कर देती है और नयी अवस्था को जन्म देती है। ठीक यही दशा सामाजिक विकास क्रम की भी होती है। मनुष्य अपने उत्पादन के स्वरूप मे परिवर्तन चाहता है। वह उच्चतर जीवन का आकाक्षी होता है, इस प्रकार वह अपने उत्पादन के ससाधनो मे परिवर्तन करता है ताकि उससे अच्छा परिणाम प्राप्त कर सके, ये परिवर्तित नई

1 लेनिन–सोवियत सघ की कम्युनिष्ट पार्टी का इतिहास मे से उद्धृत–पृ०–123।

शक्तिया, प्राचीन शक्तियो से सुदृढ व उन्नत किस्म की होती है अत नयी शक्तियो व पुरानी शक्तियो मे सघर्ष आरम्भ हो जाता है, क्योकि पुरानी शक्तिया, नयी शक्तियो को पैर जमाने देना नही चाहती, परिणामत बडे–बडे आन्दोलन होते है, क्रान्तिया होती है, परिवर्तन के परिणाम स्वरूप एक नई व्यवस्था जन्म लेती है।

अर्थतत्व की भूमिका : सामाजिक सस्थाओ का जन्म उत्पादन की प्रक्रिया से होता है। एगेल्स के अनुसार–"उत्पादन व उत्पादित वस्तुओ का विनमय ही प्रत्येक समाज अवस्था का आधार है। इतिहास मे जितनी भी सामाजिक अवस्थाये हुई है, उनमे से प्रत्येक की विवरण पद्धति और प्रत्येक का वर्ग विभाजन इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज मे क्या उत्पन्न होता है? कैसे उत्पन्न होता है? और किस प्रकार उसका विनमय होता है?[1]

मार्क्स के अनुसार ससार मे दो पदार्थ है–स्वीकारात्मक और नकारात्मक। इन दोनो तत्वो मे सघर्ष का नाम ही जीवन है। इसका आधार वस्तु (मैटर) है, इसी से चेतना का जन्म होता है। यही चेतना द्वन्द्वात्मक होती है।[2] और यही प्रक्रिया सामाजिक व्यवस्था मे भी कार्य करती है। जिसका मूलाधार आर्थिक तत्व है। मार्क्सवादी चितन के अनुसार साहित्य व समाज का मूलाधार आर्थिक व्यवस्था है। मार्क्स ने सामाजिक जीवन की वास्तविक नीव आर्थिक ढाचे को ही बतलाया है। लोग जो सामाजिक उत्पादन का कार्य करते है, उससे उनके बीच कुछ निश्चित राम्बन्धो की स्थापना हो जाती है। ये सम्बन्ध अनिवार्य तथा उनकी इच्छा से निरपेक्ष रहते है, ये उत्पादन सम्बन्ध उनकी उत्पादन की भौतिक शक्तियो के विकास की एक निश्चित अवस्था के अनुकूल होते है। इन उत्पादन सम्बन्धो की समाप्ति से ही समाज का आर्थिक ढॉचा निर्मित होता है और सामाजिक चेतना के विशिष्ट रूप भी इसी के

---

1 फ्रेडरिक एगेल्स–समाजवाद–वैज्ञानिक और काल्पनिक पृ० 29
2 प्रगतिवादी काव्य साहित्य–डा० कृष्ण लाल हस पृ० 15

अनुरूप होते है।

मार्क्स के अनुसार मूल्य वस्तुगत व अनुमानित है क्योकि वे आवश्यक सामाजिक श्रम के आधार पर उत्पादन के खर्च को काट कर निश्चित किया जाता है। यह सिद्धान्त मात्र शारीरिक श्रम विभाजन का है, क्योकि उच्चकोटि के मानसिक श्रम का नाम इस विभाजन के अतर्गत नही आ सकता।[1]

पॅूजी कहा से आती है? इस पर मार्क्स ने बताया है कि मजदूरो के श्रम मूल्य से काट कर एक व्यक्ति पूजी इकट्ठा करता है, और पूजीपति बन जाता है उदाहरण के रूप मे–किसी कारखाने मे 100 मजदूर कार्य करते है और प्रत्येक मजदूर प्रतिदिन 1000 रूपये मूल्य का श्रम करता है, परन्तु मिल मालिक उसे 100 रूपये देता है, यह 900 रूपये प्रत्येक मजदूर का मालिक के पास पूजी के रूप मे सचित होता है, अत , प्रतिदिन 90 हजार रूपये जो मजदूरो के गाढे श्रम की कमाई है, एक व्यक्ति के पास सतत् सचित होती जाती है, और क्रमश मजदूर अपनी श्रम शक्ति सस्ती से सस्ती बेचता जाता है। एक स्थिति आती है जब मजदूर के पास रोटी के लिए भी क्रय शक्ति नही रह जाती, ऐसी स्थिति मे वह क्रान्ति का मार्ग अपनाता है, पूजीवाद समाप्त होता है और साम्यवाद स्थापित होता है, यह प्रक्रिया सतत् चलती रहती है। मनुष्य स्वभाव से आराम तलब जीव है, जीवन के हर क्षेत्र मे अधिक से अधिक सुख–सुविधाओ का आकाक्षी होता है इसके लिये वह तरह–तरह के साधनो का अविष्कार करता है। इसमे अनेक यन्त्र व मशीने शामिल है। इनका उपयोग वह स्वय अकेले नही कर सकता। अत इनका उपयोग वह समूहो या समाज मे करता है। इसी को 'उत्पादन सम्बन्ध' कहते है और जो साधन है उन्हे 'उत्पादक शक्ति' कहते है। इस प्रकार उत्पादन–सम्बन्ध व उत्पादक शक्ति के बीच अनुकूल सम्बन्ध से ही सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से चल सकती है। अन्यथा क्राति की सम्भावना बन

1 हिन्दी गद्य साहित्य पर समाजवाद का प्रभाव–डा० शकर लाल जयसवाल पृ० 10

जाती है।

पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन शक्ति तो विकसित है परन्तु 'उत्पादन सम्बन्ध' पिछडी अवस्था मे है, उत्पादन शक्ति का तो बहुत विकास हो गया है, किन्तु इनके उपभोग का तरीका व्यक्तिगत है। मिल मालिक या पूँजीपति उत्पादित वस्तुओ पर पूर्ण स्वामित्व जमा लेता है, जबकि उत्पादन कार्य करने वाला मजदूर जो सख्या मे बहुत बडा वर्ग है, मूलभूत सुविधा–विहीन हो जाता है। इस प्रकार पूजी कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियो तक सीमित हो जाती है। उत्पादनशील व उत्पादन सम्बन्ध की यह विषमता समाज मे असतोष विद्रोह, सघर्ष आदि को जन्म देती है यह सघर्ष की अवस्था तब तब चलती है जब तक साम्यवाद स्थापित न हो जाय।

'वर्ग सघर्ष सम्बन्धी मान्यता' मनुष्य व उसका समाज जीवन रक्षा के प्रयत्नो से जुडा रहता है। मनुष्य अपने जीवन रक्षा के लिये अन्न पैदा करता है, जीवन का निर्वहन सुचारू रूप से चले इसकेलिए समाज मे कार्य विभाजन करना पडता हे, इस विभाजन मे व्यक्ति कई श्रेणियो मे बट जाते है। अत उनके हित भी भिन्न–भिन्न हो जाते है। इनका परिणाम ये होता है कि कुछ श्रेणियॉ बिना श्रम किये हुए दूसरे के श्रम का उपभोग करना चाहती है, और इस प्रकार आपसी सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। मार्क्स के अनुसार–"समाज के दायरे मे मौजूद इस श्रेणियो का परस्पर सघर्ष ही मनुष्य समाज का इतिहास है।"[1]

पूँजीवादी व्यवस्था मे समाज दो वर्गो मे बट जाता है, एक शासक वर्ग दूसरा शोषित वर्ग। पूँजीपति उत्पादन के समग्र साधनो पर अधिकार रखते है, अत भोग–विलास का जीवन यापन करते है। उनके पास सुख के सभी साधन होते है, यथा बडे–बडे मकान, गाडी तथा सुविधाजनक घरेलू मशीने, दूसरी ओर विशाल जन समुदाय जिसकी श्रम शक्ति से पूँजी बनती है, वे गन्दी बस्तियो मे असुविधाजनक टूटे

---

1 मार्क्स वाद–यशपाल–पृ० 68-

मकानो मे, महामारी भरी जिदगी जीने को अभिशप्त होते है। निराला जी की 'बादल राग' कविता मे भी ये स्थितियाँ देखी जा सकती है।

इन दोनो वर्गों मे पूँजीपति के पास पूँजी होती है, और श्रमिक के पास श्रम, पूँजीपति पैसे के बल पर मजदूरो से सस्ते दर पर उसका श्रम खरीद लेता है मजदूर के पास रोटी के लिये श्रम को सस्ते दर पर बेचने की मजबूरी होती है। इस प्रकार पूँजीवाद शोषण के बल पर लगातार शोषित का खून चूसता रहता है। इस अभिव्यक्ति को हम काव्य मे भी महसूस कर सकते है। जहाँ मजदूर सब उपकरणो का निर्माता है पर वह स्वय उससे वचित है, वह अन्नदाता है, पर भूखा है। यह है भारत का 'दरिद्र नरायण' मजदूर और किसान—

ओ मजदूर! ओ मजदूर!!
तू सब चीजो का कर्त्ता, तू ही सब चीजो से दूर,
ओ मजदूर! ओ मजदूर!!
इस खलकत का खालिक तू है, तू चाहे तो पल मे कर दे,
इस दुनिया को चकनाचूर, ओ मजदूर! ओ मजदूर!!

'दरिद्र नरायण'

मार्क्सवाद का सिद्धान्त है कि—साधनो की मालिक श्रेणी सदा ही मेहनत करने वाली श्रेणी से मेहनत करा कर पैदावार का अधिक भाग अपने पास रखने की कोशिश करती है। और अपनी मेहनत से पैदा करने वाली श्रेणी, अपने जीवन—निर्वाह के लिए इन ससाधनो को स्वय खर्च करना चाहती है। इस प्रश्न को लेकर इन दोनो श्रेणियो मे सघर्ष चलता रहता है और यह सघर्ष ही मनुष्य समाज के आर्थिक विकास की कहानी है। शोषक व शोषित का यह सघर्ष सदा से चला आया है। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था मे कल—कारखानो के बहुत वि[illegible] रूप धारण कर लेने के कारण यह सघर्ष

भी बडे परिमाण मे बढ गया।[1]

मार्क्सवाद की यह धारणा रही है कि आज तक के समाज का इतिहास वर्ग–सघर्ष का इतिहास है। वस्तुत इस वर्ग सघर्ष ने ही मनुष्य के व्यक्तित्व व जीवन को खडित कर डाला।[2] शोषित वर्ग पैदावार पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयास करता रहा, परन्तु शोषक वर्ग इसे सहन नही कर सकता, वह समाज को उसी प्रक्रिया से चलते रहने देना चाहता है, वह सोचता है कि समाज की वर्तमान व्यवस्था स्वभाविक है, यदि इस नियम को बदलने का प्रयास किया गया तो समाज का विनाश हो जायेगा। इस प्रकार वह अपने स्वार्थ के लिए सघर्ष करता है, और वर्ग–सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

मार्क्स के अनुसार पूँजीपति स्वय तो शोषण करता ही है और अपनी पूँजीवादी व्यवस्था को अक्षुण बनाये रखने के लिये अन्य देश के लोगो को भी इसी व्यवस्था को बनाये रखने के लिये उकसाता है। अपने अधिकारो की रक्षा के लिए वह यह तर्क देता है कि यह पूँजीवादी प्रक्रिया समाज मे आदि काल से चली आ रही है। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य समाज मे किसी प्रकार की वैयक्तिक सम्पत्ति जमा करने की पहले प्रवृत्ति नही थी। आदिकाल मे मनुष्य ने सामुदायिक जीवन, श्रम तथा उत्पादन (वन व कृषि आदि) प्रारम्भ किया था, और उत्पादन पर समान अधिकार, व उपभोग को सुनिश्चित किया था। श्रेणी भेद की व्यवस्था तो उत्पादन मे वृद्धि तथा उन पर अधिकार करने की लालसा के साथ पैदा हुई।

आज की व्यवस्था तो प्राचीन व्यवस्था से भी ज्यादा जटिल हो गयी है, क्योकि प्राचीन दास व्यवस्था तथा मध्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था मे–मालिक अपने दासो को व सामन्त अपने किसानो को इतना खाने को दे देते थे कि वे मर न जाय।

---

1 मार्क्सवाद–यशपाल–पृ०–196

2 साहित्य की समस्याये–शिवदान सिह चौहान पृ० 64

क्योकि यदि शोषित मर गये तो उनका काम कौन करेगा? यह स्वार्थ था, पर इससे उनका जीवन निर्वहन हो जाता था, परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था उससे भी भयकर निकली, क्योकि पूँजीपति मजदूरो के प्रति इस दायित्व से भी मुक्त था। क्योकि एक की मृत्यु के बाद दूसरा उसका स्थान ले लेता, और इस प्रकार पूजीपति बडी निर्दयता से दीन–हीन–लाचार मजदूरो का शोषण करता चला गया।

औद्योगिक विकास के कारण मशीनो का युग प्रारम्भ हो गया, मशीने उत्पादन को बढा दी, पर मजदूरो की सख्या को मशीनो ने घटा दिया, जिससे बडे पैमाने पर मजदूर बेरोजगार हो गये, और उनमे श्रम शक्ति बेचने की होड लग गई, अत इसका लाभ उठा कर पूँजीपति वर्ग–अधिक से अधिक श्रम के लिए कम से कम मजदूरी निर्धारित करता, और सर्वहारा वर्ग का उसने सर्वनाश कर दिया।'

पूँजीवादी प्रणाली क्या है? : उपन्यासकार यशपाल के कथनानुसार–" पूँजीवादी प्रणाली मे सभी पदार्थ विनमय के लिये तैयार किये जाते है। पूँजीवादी समाज मे नयी बात यह होती है कि मनुष्य के परिश्रम की शक्ति भी बाजार मे बेची व खरीदी जाती है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी प्रणाली की विशेषता है–मेहनत करने वाले से अतिरिक्त श्रम या 'अतिरिक्त मूल्य' के रूप मे मुनाफा उठाना– पूँजी के द्वारा पूँजी कमाना है। पूँजीवाद अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त मूल्य के रूप मे ही और अधिक पूँजी कमा सकता है।[1] मार्क्सवाद वर्ग सघर्ष का हिमायती है। इसके लिये वह उसके रूप पर किसी प्रकार का परदा डालने या पूँजीपतियो से किसी भी प्रकार का समझौता करने को तैयार नही। वह केवल समाज मे वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए वर्ग सघर्ष का प्रसार करके, समाज मे पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके साम्यवाद की स्थापना करना चाहता है। इसमे पूँजी का समाजीकरण हो जायेगा, इस प्रकार वर्ग सघर्ष मार्क्सवाद का प्रमुख अस्त्र है।

---

1 मार्क्सवाद–यशपाल–पृ०–218-

क्राति का समर्थन सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के लिए उसके मूल कारणो का पता लगाना आवश्यक होता है। परन्तु मार्क्सवाद समाज मे व्याप्त कुरीतियो मे सुधार करने का पक्षपाती न होकर क्रान्ति का पोषक है। वह समाज मे सुधार करने मे विश्वास नही करता, उसकी यह क्रान्तिवादिता द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है। क्योकि विकास की निश्चित अवस्था मे पूँजीवाद परिपक्व अवस्था मे पहुँच जाने पर उसका पतन आवश्यक है। क्राति की आवश्यकता पर बल देते हुए मार्क्स ने कहा है कि– "(जब पुरानी सामाजिक व्यवस्था के गर्भ मे एक नयी समाजिक व्यवस्था परिपक्व हो जाती है, तब उसके जन्म के लिए शक्ति रूपी धार की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है।) जब कोई व्यवस्था अपने चरम पर पहुँच जाती है तो उसके पतन के लक्षण उसी व्यवस्था मे दिखाई देने लगते है। पूँजीवादी व्यवस्था का भी अन्त अवश्यम्भावी हो चुका था, जनता जब इस व्यवस्था से उब गयी और क्रान्ति को गति देना प्रारम्भ कर दिया और 'कम्युनिष्ट घोषणा–पत्र' मे एगिल्स के साथ लिखा– "आधुनिक पूँजीवादी समाज ने उत्पादन व विनमय के विशाल साधनो को जादू की तरह जन्म तो दे दिया है, लेकिन उत्पादन, विनमय, और सम्पत्ति की उसकी व्यवस्था उन्हे सम्हाल नही पाती, वह एक ऐसे जादूगर के समाजन है जिसने अपने जादू के जोर से इन शक्तियो को नैतिक जगत मे बुला तो लिया है लेकिन उन्हे काबू मे रखने मे असमर्थ है।"

मध्यकालीन समाज मे सामन्तवाद का उदय हो गया, सामन्त तथा साहुकारो दोनो ने किसानो का इतना शोषण किया कि लाचार होकर उसे कृषि कार्य से विमुख होना पडा। ठीक इसी समय पूँजीवाद का विकास हो रहा था, अत किसानो ने गाव छोडकर शहरो मे रोजी रोटी की तलाश आरम्भ कर दी, इस प्रकार धीरे–धीरे पूँजीवाद विकसित होने लगा, और सामन्तवाद का अन्त होने लगा। सामन्तवाद की समाप्ति मे जिन तत्वो ने कार्य किया था वही तत्व अब पूँजीवाद की समाप्ति के लिए जिम्मेदार

हो गये। अर्थात जो कृषक सामन्तवाद का अन्त कर गये, वही अब मजदूर के रूप मे पूँजीवाद की समाप्ति के लिए खडे हो गये। लेकिन पूँजीपति वर्ग ने केवल ऐसे हथियारो को ही नही गढा है, जो उसका अन्त कर देगे, बल्कि उसने ऐसे, मनुष्यो को भी पैदा कर दिया है जो इन हथियारो को इस्तेमाल करेगे, वे वर्ग–मजदूर है, सर्वहारा है, शोषित है, दलित है।

मार्क्सवाद क्रान्ति का पक्षधर अवश्य है, परन्तु वह शर्वनाश, सहार आदि के अर्थ मे न हो कर स्वच्छ समाज के निर्माण, के अर्थ मे ग्रहण किया गया है।

सर्वहारा का एकाधिकार : मार्क्स क्राति का समर्थक है परन्तु निरूद्देश्य क्राति का नही, क्योकि 'प्रतिषेध के प्रतिषेध' नियम के अनुसार आन्तरिक असगतियो के विकास के कारण एक स्थिति का विनाश दूसरी स्थिति के विकास का कारण बनता है, पर ऐसा विनाश जो विकास को रोक देता हो, इस नियम के अन्तर्गत नही आ सकता। सर्वहारा एकाधिपत्य एक क्रान्तिकारी शक्ति है, जिसका आधार पूँजीपतियो के विरूद्ध बल का प्रयोग है[1] मनुष्य के शोषण, दासत्व और भाग्य मे मनुष्य की शैतानी भरी जिम्मेदारी को व्याख्यायित और उद्घाटित करने वाले कार्ल मार्क्स थे। उन्होने इस विचार को तर्क पर आधारित किया कि–मनुष्य के भाग्य निर्माण मे ईश्वर की इच्छा का तर्क विलुप्त हो गया। मार्क्स ने नैतिक इच्छा तथा सामन्जस्य की भावना जैसे धुधले व रहस्यमय शब्दो के स्थान पर एक निश्चित अर्थ देने वाले वैज्ञानिक चिन्तन को प्रस्तुत किया।[2] मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग सगठित होकर राज्यसत्ता पर अपना एकाधिकार स्थापित कर ले, सर्वहारा वर्ग के एकाधिपत्य का आशय था कि वह क्रान्ति के द्वारा पूँजीपति वर्ग के विरोध को समाप्त कर दे और एक ऐसी नयी व्यवस्था का निर्माण करे जिसमे किसी भी दूसरे वर्ग का साझा (हिस्सा) न हो।

---

1 हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी चेतना–जनेश्वर वर्मा – पृ०स०– 95–96

2 मार्क्सवाद – यशपाल– पृ०स०– 88

सर्वहारा का स्वतत्र राज्य हो अन्यथा उसकी प्रगति का रास्ता अवरूद्ध हो जायेगा, किसी व्यवस्था के पतन के बाद उसके पूर्व सस्कार पूर्णत लुप्त नही होते, बल्कि बीज रूप मे उसी व्यवस्था मे पलते रहते है। इसी प्रकार पूँजीवाद की समाप्ति के बाद भी, व्यवस्था मे पूँजीवादी तत्व विद्यमान रहते है जो समयानुसार फलीभूत हो कर अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहते है। इसके लिए सर्वहारा वर्ग को कुछ उपाय करने चाहिए।

1 क्रान्ति द्वारा पराजित और एकाधिकार युक्त पूँजीपतियो के विरोध को बल पूर्वक कुचलकर पूँजी के शासन फिर से स्थापित करने के उनके समस्त प्रयत्नो को असफल कर देना चाहिए।

2 रचनात्मक व निर्माण सम्बन्धी कार्यो को इस ढग से सगठित करना चाहिए कि इससे सारा श्रमजीवी समूह श्रमिक वर्ग का सहयोगी बन जाय, उन्हे इन कार्यों को इस प्रकार पूर्ण करना चाहिए कि वर्गभेद व वर्ग समाज के अन्त का भी रास्ता साफ हो जाय।

3 विदेशी शत्रुओ व साम्राज्यवादियो से लोहा लेने के लिए क्रान्ति के समर्थको को हथियार बद करना, और क्रान्तिकारियो की सेना सगठित करना जिससे की वे इस कार्य मे पूर्ण सफल हो सके।

'वर्ग विहीन समाज की स्थापना' · सर्वहारा एकाधिपत्य तो मार्क्सवाद का साधन मात्र है साध्य नही। मार्क्सवाद का साधन तो वास्तव मे वर्ग विहीन समाज है। मार्क्स समाज मे हर सभव श्रेणियो के उन्मूलन का प्रयास करता है। क्योकि आदि काल से इन श्रेणियो का विकास ही शोषण के लिये हुआ, अत शोषण मुक्त समाज के लिए मार्क्स उन आर्थिक व्यवस्था की जड पर प्रहार करने का पक्षधर है जो व्यवस्था इन श्रेणियो को जन्म देती है। इस प्रकार मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर समाजवादी और सामानतावादी व्यवस्था के पोषक है। समानता का यह अर्थ कदापि

नही है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधाये दी जाय, यदि ऐसा होगा तो समाज चल ही नही सकता है। समानता से उसका आशय सभी व्यक्तियो को उसके श्रम का उचित फल मिले, सभी को बराबर काम मिले, कोई बेकार न हो, सरकार की ओर से प्रत्येक व्यक्ति को जीवन निर्वाह की गारन्टी हो। पूँजी किसी व्यक्ति विशेष की न हो कर पूँजी, कल, कारखानो पर सामुहिक उत्तरदायित्व हो।

इस प्रकार मार्क्स के अनुसार समाजवाद का अर्थ–प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन निर्वाह का समान अवसर होना और प्रत्येक व्यक्ति को अपने पारिश्रमिक के फल पर समाज रूप से अधिकार होना होगा।[1]

मार्क्स के आलोचको का प्राय यह आरोप है कि यदि सबके श्रम का फल समान होगा तो किसी मे भी बडा श्रम करने का उत्साह नही रह जायेगा। सभी की जीवन निर्वाह की गारन्टी के कारण कोई काम करना ही नही चाहेगा। ऐसी स्थिति मे देश का विनाश हो जायेगा। परन्तु इसका उत्तर मार्क्सवादी यूँ देते है– जब शासन मजदूर वर्ग का हो जायेगा तो सब समान रूप से कार्य करगे, कोई किसी के श्रम को खरीद नही पायेगा, जहॉ तक कार्य करने से कतराने का प्रश्न है– तो परिस्थितियो के अनुसार मानव प्रवृत्तियॉ भी बदलती है पूँजीवादी व्यवस्था मे मनुष्य की प्रतिष्ठा की माप धन बन जाता है, जो जितना धन वाला है समाज मे उतनी ही प्रतिष्ठा पाता है। इसी लिए वह हर सभव धन जुटाने मे जुटा रहता है। अत वह कई व्यक्तियो के श्रम के भाग को अकेले हजम कर जाता है। इसके विपरीत जब समाजवादी व्यवस्था होगी तो, उस समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए धन नही सामाजिक कार्य की आवश्यकता होगी, अत व्यक्ति स्वभावत मान–प्रतिष्ठा का भूखा होता है, इस व्यवस्था मे प्रतिष्ठा पा कर वह इसी व्यवस्था का विकास करता जायेगा जिससे समाजवादी व्यवस्था और उन्नतिशील बनती जायेगी।

---

1 मार्क्सवाद– यशपाल– पृ०स०–88

इस व्यवस्था को अर्थशास्त्र की भाषा मे यू समझ सकते है। पूँजीवादी व्यवस्था मे पूँजीपति उतना ही पैदा करता है जितने से बाजार मे उसकी मॉग ज्यादा रहे, और पूर्ति कम होने से वह माल महगा बिके। वह हमेशा खपत से कम उत्पादन करता है, जिससे उसके माल का मूल्य बढा रहे और जैसे ही उसके पास अधिक माल एकत्रित हो जाता है, वह उत्पादन बद कर देता है, यहा तक कि वह अपने माल को नष्ट भी कर देता है, पर किमत गिरने नही देता है। दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था मे मशीनो पर ज्यादा से ज्यादा काम लेने से उतना माल तैयार रहता है, जितनी उसकी खपत होती है और जो कार्य आदनी से जल्दी मशीने कर लेती है। उन्हे मशीनो के माध्यम से ही किया जाता है। इस प्रकार उत्पादन पर रोक नही लगाई जाती है। कठिन कार्य मशीने करती है, और सरल कार्य मजदूर करता है, मजदूरो का उत्साह भी बना रहता है अत उन्हे लालच नही होता है। इस प्रकार सभी समान रूप से कार्य करते है और सभी सुखी जीवन निर्वाह करते है। सुखी व सम्पन्न होने व कार्य के घटे निर्धारित होने से सबके पास पर्याप्त समय होता है जिसका उपयोग, सस्कृति कला, साहित्य तथा देश के चहुॅमुखी विकास मे लगाकर देश को आगे बढाने मे मदद करते है। जब व्यवस्था सबके हित मे होती है तो वह स्वय ही कायम रहती है, और उसके लिए विरोध उठाना असभव रहता है। कोई भी उसे नष्ट करने या बदलने की चेष्टा नही करता है। चूँकि व्यवस्था इस प्रकार की नही होती, इसीलिए शासक वर्ग को सदैव शोषित वर्ग का भय बना रहता है कही वह उसके विरूद्ध विद्रोह न कर दे। कही उसके बनाये मानदण्ड समाप्त न हो जाय, इस डर से आक्रान्त हो कर वह अपनी व्यवस्था का ऐसा जाल विछाता है, जिसमे फॅसकर शोषित वर्ग बाहर न निकल सके, भले ही उसी मे तडप कर जान दे दे। इसीलिए मार्क्स समाजव्यवस्था के पक्ष मे है। राज्य की बागडोर बहुसख्यक वर्ग के हाथ मे हो, जो मेहनती हो काम का मूल्य जानता हो, और बहुसख्यक के हित की बात करता हो इसके विपरीत जब शासक अल्पसख्यक वर्ग का होता है तो उसके नियम की मुट्ठी भर लोगो के हित मे होते है,

जो बहुसख्यक वर्ग के लिए कष्टकर होते है। किन्तु जब शासक बहुसख्यक वर्ग का होता है तो व्यवस्था भी बहुसख्यक वर्ग के पक्ष मे होती है, और एक स्वस्थ्य समाज की नीव पडती है जिसमे व्यक्ति का शोषण व्यक्ति के द्वारा नही होता है।

'मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त' मार्क्स एक अर्थशास्त्री भी थे, उन्होने अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन किया था। उनका अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तरह एक अमूल्य नीधि है। मार्क्स ने पूॅजीवादी अर्थनीति का गहन अध्ययन करके अपने विचारो को 'कैपिटल' नामक ग्रन्थ मे सूचिबद्ध किया। इस पुस्तक मे मार्क्स ने पूॅजीवादी अर्थनीति का बडा ही सूक्ष्म एव वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया। उत्पादित वस्तुओ के मूल्य निर्धारण मे श्रम का क्या महत्व है? पूॅजी का एक स्थान पर एकत्रीकरण कैसे हो जाता है? पूॅजीपति मुनाफा कहा से और कैसे प्राप्त करते है? आदि प्रश्नो को मार्क्स ने हल करने का प्रयास किया है। इन सब समस्याओ पर विचार करके, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त की स्थापना की, जो पूरी तरह मौलिक है।

वर्तमान पूॅजीवादी आर्थिक व्यवस्था माल उत्पादन पर ही आधारित है। अत मार्क्स ने अपने मूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन माल के उपयोगमूल्य व विनमय मूल्य इन दोनो पक्षो की व्याख्या से प्रारम्भ किया है। उसने बताया है कि हवा पानी आदि कुछ ऐसी वस्तुए है जिनका उपयोग मूल्य तो अधिक है परन्तु बाजार मे उनका विनमय मूल्य कुछ भी नही है। इसका कारण है कि इन वस्तुओ की उपयोगिता मे मानवीय श्रम का योगदान है। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति अपने निजी उपभोग के लिये अपने ही परिश्रम से किसी वस्तु का उत्पादन करता है, तो मानवीय श्रम और उपयोग–मूल्य दोनो के होते हुए भी उसे द्रव्य या माल की सज्ञा प्रदान नही की जा सकती। मार्क्स के कथनानुसार द्रव्य या नाल के उत्पादन के लिए केवल उपयोग मूल्य की सृष्टि ही पर्याप्त नही है, इसके लिए सामाजिक उपयोग मूल्य का होना भी आवश्यक है।

प्राचीन काल मे व्यक्ति अपने द्वारा उत्पादित एक वस्तु को दूसरे द्वारा निर्मित वस्तु से विनिमय कर लेता था। अर्थात मनुष्य आपस मे वस्तुओ की अदलाबदली कर लेते थे। ये वस्तुये उपयोग के मूलय की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी बराबर कैसे समझ ली जाती थी? इसक उत्तर देते हुए मार्क्स बतलाते है कि 'विभिन्न उपयोग मूल्य रखने वाली दो वस्तुओ को बराबर समझकर जब इनका विनिमय किया जाता है तो इसका आशय यह होता है कि एक वस्तु मे विद्यमान मानवीय श्रम की मात्रा दूसरी वस्तु मे विद्यमान मानवीय श्रम की मात्रा के बराबर है'[1]

अत सबका आधार यह है कि जो श्रम कपडे के उत्पादन मे जुलाहे द्वारा किया जाता है, वही श्रम एक किसान द्वारा चावल उत्पादन मे किया जाता है। अत चावल का मूल्य कपडे के मूल्य को निर्धारित करने के सिर्फ एक ही आधार हो सकता है वह है मानवीय श्रम।

पूँजीवाद की आन्तरिक असगतियाँ · सम्पूर्ण उत्पादन का व्यक्ति विशेष द्वारा उपभोग ही पूँजीवाद की असगति है। जो सर्वहारा के मन मे विद्रोह व असतोष को जन्म देती है। किसी भी वस्तु का उत्पादन सामाजिक श्रम से होता है, किन्तु इस सामाजिक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार पूँजीपतियो का हो जाता है। जो लोग उसके उत्पादन मे सक्रिय भाग लेते है उसके लाभ से वचित हो जाते है। मुख्य लाभ पूँजीपति वर्ग उठाते है, अत असतोष की भावना का विकास होने लगता है।

किसी कार्य मे लगी श्रमशक्ति को मापने के लिए हमे किन मानदण्डो का प्रयोग करना चाहिए? इस सम्बन्ध मे मार्क्स का कथन है कि किसी कार्य मे लगाया गया मानवीय श्रम को उस कार्य के उत्पादन मे लगाये गये श्रम के आधार पर नापना चाहिए। इस श्रम काल को दिनो, घटो आदि मे मापा जा सकता है।

---

[1] कार्ल मार्क्स – कैपिटल– प्रथम अक– पृ०स०–20

पूँजीवादी व्यवस्था ने एक ओर तो विशाल औद्योगिक कारखाने लगाये है और दूसरी ओर एक ऐसे वर्ग समुदाय को जन्म दे दिया, जिसके पास वस्तु उत्पादित करने के अपने साधन नही है। उसके पास बस श्रम शक्ति है, परिणामत बाजार मे जिस तरह वस्तुओ का क्रय–विक्रय होता है उसी प्रकार सर्वहारा की श्रम शक्ति भी पूँजीपतियो द्वारा खरीदी जाती है। अतिरिक्त मूल्य की विस्तृत व्याख्या करते हुए मार्क्स ने बताया है कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य की श्रम शक्ति ने भी पण्य रूप धारण कर लिया है, और सामान्य पण्य की भॉति ही बाजार मे क्रय–विक्रय की वस्तु बन गयी है।

मार्क्स के अनुसार श्रम शक्ति ही एक ऐसा पण्य है जो अतिरिक्त मूल्य को जन्म देता है क्योकि श्रम शक्ति के मूल्य तथा उत्पादन के मूल्य मे अन्तर होता है। श्रम शक्ति का मूल्य (सामाजिक आवश्यकतानुसार) श्रम की उस मात्रा मे निर्धारित करने मे व्यय होती है। जबकि उत्पादन शक्ति का मूल्य, उस श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, जो मजदूर व उसके परिवार के आवश्यक भरण–पोषण के लिये पर्याप्त माल के उत्पादन मे लगता है।[1] पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा अनेक सामाजिक समस्याय उत्पन्न हुई है, उनमे से एक है, किसानो का मजदूरो के रूप मे शहरो की ओर पलायन, जिससे शहर मे उनका जीवन नरक बन गया है। इन प्रवासी मजदूरो को अनेक समस्याओ का सामना करना पडता है। गॉव का भोला किसान शहर की चका–चौध मे अपने को एकागी व अजनवी महसूस करता है, क्योकि गॉव की रीति–रिवाज रहन–सहन शहरी जिदगी से बहुत भिन्न होती है। अत तथाकथित शहरी वर्ग इनसे घृणा करता है और इनका उपहास करता है इस कारण यह वर्गहीन भावना से ग्रसित हो जाता है। दूसरी समस्या है इनके स्वास्थ्य की, प्राय फक्ट्रियो के करीब झोपडी व खोली आदि मे ये मजदूर निवास करते है, वे अक्सर प्रदूषित

---

1 डा० मारिस डान– पूजीवादी शोषण व्यवस्था–पृ०–11 हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी चेतना से लिया गया।

वातावरण मे रहते है, न तो उन्हे शुद्ध हवा मिलती है और न ही शुद्ध पानी, एसे मे उनका स्वास्थ्य लगातार गिरता जाता है और 50-55 की उम्र तक उनमे से अधिकाश टी०वी० दमा, जैसी विमारियो का शिकार हो जाते है जो बचते है वे जवानी मे ही बुड्ढे दिखाई देते है। चूँकि पूँजीपतियो की निगाह मे मजदूर की कोई कीमत नही होती न ही मजदूरो के प्रति उनका उत्तरदायित्व होता है, इस प्रकार सम्पूर्ण उत्पादन का कर्ता स्वय नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त हो जाता है।

मजदूरो के प्रवासी हो जाने पर एक समस्या और जन्म लेती है, वह है परिवारिक विच्छिन्नता। क्योकि शहरो मे स्थान का अभाव होता है। अत मजदूर अपने परिवार को गॉव मे छोड देता है और इस प्रकार उसके अन्दर मानवीय वासनाये क्रमश दमित होती जाती है। यह दमित वासना मानसिक कुठा को जन्म देती है, जिससे उसे मानसिक प्रताडना सहनी पडती है। इससे मुक्ति पाने के लिये यह वर्ग अक्सर नशाखोरी का शिकार हो जाता है और साथ ही जूआ तथा वेश्या गमन इसकी आवश्यता से अधिक विवशता बन जाती है। ये सारी बुराईयॉ पूँजीवादी व्यवस्था के कारण ही उत्पन्न होती है

मार्क्सवाद की साहित्यिक मान्यता . वर्ग विभाजन व वर्ग वैसम्य का नग्न रूप पुँजीवादी व्यवस्था मे देखा जा सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था मे धन दुनियॉ की सबसे बडी ताकत है। हर वस्तु को धन पर तोला जा सकता है, यथा नाते–रिस्ते, प्यार सम्बन्ध और यहॉ तक की ममत्व भी। आज समाज पूँजीवादी व्यवस्था का इस कदर शिकार हो गया है कि पैसे से भाडे पर मॉ की कोख भी उपलब्ध हो गयी है। इस प्रकार मानव, मूल्य के विनमय का साधन बन जाने की ओर मार्क्स एव अन्जेल्स ने पहले ही इशारा कर दिया था जो उसके कम्युनिष्ट घोषणापत्र मे सकलित है।

"पूँजीपति वर्ग ने जहा कही भी सत्ता ग्रहण की वह सामन्तवादी प्रवृत्ति, सत्तावादी भावुकता ने सभी सम्बन्धो का अन्त कर दिया। स्वाभाविक रूप से उच्च

कहलाने वाले लोगों से मनुष्य जिस नाना सामन्ती सम्बन्धों में बंधा हुआ था उन सबकों उसने निष्ठुरता से तोड़ दिया। हृदय शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कुछ दूसरा सम्बन्ध उसने बाकी नहीं रहने दिया। ऊँची से ऊँची धार्मिक भावनाओं, वीरोचित्त उत्साह और भोली से भोली भाउकताओं, सब पर पूँजीवादी व्यवस्था ने अपनी तिजारत का मुलम्मा चढ़ा दिया। मनुष्य के गुणों को उसने बाजार की विकाऊ चीज बना दिया। जिन पेशों के सम्बन्ध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी उन सबका रंग पूँजीपति वर्ग ने फीका कर दिया है। डॉक्टर, वकील पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक को उसने अपना वेतन भोगी कर्मचारी बना लिया है।[1]"

पूँजीवादी युग का प्रभाव कवियों पर भी पड़ा। काव्य पवित्र भाव न रह कर साधारण पण्य के समान ही बाजार में विक्रय की वस्तु बन गया है, और कवि सच्चे अर्थों में कवि न रह कर बाजार के लिये काव्यरूपी ऐसे पण्य (मुद्रा) का उत्पादनकर्त्ता बन गया है जिसकी मांग निरन्तर घटती जा रही है।

पूँजीवाद प्रगतिशील न होकर प्रतिक्रियावादी है। फिर भी काव्य के इस बाजार रूप को छिपाने के लिये उसे आदर्शवाद के बड़े ही रंगीन आवरण में वेष्टित करके प्रस्तुत किया जाता है। पूँजीवादी संस्कृति के जाल में उलझे हुए आलोचकों के लिए यह संभव नहीं है कि आदर्शवाद के इस आवरण को भेद कर उसके वास्तविक रूप को देख सके।[2]

अब काव्य भी धन में लोभ में लिखा जाने लगा है। वह जीवीकोपार्जन का साधन बन गया है, और कवियों में इस बात की होड़ होने लगी है कि किसकी रचना कितने मूल्य की होगी। मार्क्स और ऐंजेल्स की ऐसी धारणा थी कि औद्योगिक

---

1 मार्क्स और ऐंगेल्स– कम्युनिष्ट पार्टी का घोषणापत्र, चौथा हिन्दी संस्करण–पृ० 37-38

2 कॉडवेल– इल्यूशन एण्ड रियल्टी– पृ०स०–44

पूँजीवाद के विकास की उच्चतम अवस्था मे प्रतिफलित होने वाला सामाजिक स्वरूप जिसमे भौतिक व मानसिक श्रम का विभाजन अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाता है। जो कला के लिये घातक होता है।

मार्क्स के पहले ही रूस आदि मे प्रगतिवादी सिद्धान्तो की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। कवियो की कला की कसौटी बदल गयी थी, अब कला का लक्ष्य मनोरजन मात्र न होकर मनुष्य जीवन की झाकी बन गया। कला ने यथार्थ से नाता जोडा और दीन दुखी, निर्बल वर्ग ने काव्य मे स्थान पाया। रूस के वेलस्की ने मार्क्स से पहले कला और साहित्य के अनेक प्रश्नो का गहराई से अध्ययन किया, वे लेखक की प्रतिभा की कसौटी उनकी युगोन्मुखता तथा विश्व नागरिकता मानते है। वेलेस्की साहित्य और कला को जीवन की यथार्थ समस्याओ के साथ सलग्न करने का उद्देश्य लेकर चले, किन्तु उन्हे यही चिता सदैव बनी रही कि साहित्य और कला की महानता की रक्षा होती रहे।

मार्क्स के अनुसार यथार्थवादी दृष्टिकोण को छोडकर चलने वाला साहित्य कभी भी प्रगतिशील नही माना जा सकता, समाजवादी यथार्थवादी काव्य मे वह वर्गगत चरित्रो की उपस्थिति अनिवार्य मानते है, और उसी के अनुसार परिस्थितियो को चित्रित करना भी अनिवार्य मानते है। मार्क्स के अनुसार साहित्य सोउद्देश्य होना चाहिए, इसके लिये उसे दोनो वर्गो के बीच चलेन वाले सघर्ष का चित्रण करना चाहिए। जो साहित्य वर्ग सघर्ष का चित्रण नही करता, वर्ग सघर्ष से बच निकलने का प्रयत्न करता है, वह भविष्य के लिये अपना स्पष्ट दृष्टिकोण नही रखता। जो सर्वहारा के सघर्ष का सहायक सिद्ध नही होत, वह समाजवादी यथार्थ नही कहा जा सकता।[1]

मार्क्सवाद 'कला कला के लिये' सिद्धान्त का विरोधी है, और कला जीवन के लिये' सिद्धान्त का समर्थक है। मार्क्सवाद के अनुसार कला और जीवन का सम्बन्ध

---

[1] पाश्चात् काव्य शास्त्र–मार्क्सवादी परम्परा–सपा०–डा० मक्खन लाल शर्मा–पृ०स०–5

अविच्छिन्न है। मार्क्सवाद भौतिक जीवन को ही एकमात्र सत्य मानता है, किसी परोक्ष सत्ता पर उसे विश्वास नही है। चूँकि समाज ही भौतिक जीवन की सत्ता है अत मार्क्स समाज हित को अधिक महत्व प्रदान करता है। वह समाजहित मे ही व्यक्ति का हित देखता है। अत मार्क्स की मान्यता के अनुसार साहित्य मे सामाजिक चेतना पर ज्यादा बल देना चाहिए। समाज का साधन होने के नाते वह साहित्य मे भी जनहित के उद्देश्य को लेकर चलता है, साहित्य को वह सामाजिक चेतना का ही अग मानता है। जिसके माध्यम से मनुष्य के मानवत्व एव सामाजिक सत्य को प्रतिबिम्बित करता है।[1]

मार्क्सवाद कलात्मक सुन्दरता के साथ साहित्य मे कर्म सदेश को भी आवश्यक मानते है। साम्राज्यवाद के फलस्वरूप साहित्य मे जो निराशा व पलायन की प्रवृत्ति आ गयी थी, मार्क्सवाद उसका विरोध करता है। वह पूँजीवादी विकृतियो का उद्घाटन करता हुआ व्यक्ति को विजय एव आशा का सदेश देता है और निरन्तर समस्याओ से सघर्ष करना चाहता है। उससे मुह छिपाकर भागना नही चाहता है। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार कला का वास्तविक आधारा है–मनुष्य का पारस्परिक सम्बन्ध। पूँजीवादी व्यवस्था ऐसी है जिसमे सामाजिक सम्बन्धो की महत्ता घट जाती है। वहॉ प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ के बन्धन से बध जाता है, और बस पूँजी की महत्ता बढ जाती है। सारा समाज पैसे के बल पर ही टिका हुआ होता है। चारो ओर ईर्ष्या और घृणा का साम्राज्य फैला हुआ होता है। "सामाजिक सम्बन्धो से लेकर भावना जगत व कला जगत तक को इस वणिज्यीकरण को देखकर सच्चे कलाकार का मन वितृष्णा और क्षोभ से खिन्न हो उठता है उसके मन मे इस स्थिति के प्रति एक तीव्र विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। परन्तु पूँजीवादी सस्कारो से प्रभावित कलाकार का विद्रोह पूँजीवादी सस्कृति की सीमाओ का उलघन नही कर पाता। श्रेष्ठ कलाकार वही है जो पूँजीवादी घेरे से पूर्णत मुक्त हो कर खुलकर उसका विरोध करने के लिए सामने

---

1 क्रिस्टोफर कॉडवेल–इल्यूशन एण्ड रियल्टी–पृ०स०–30

आये। कलाकार किसी भी प्रकार के मध्यम मार्ग को न अपनाये, वह या तो उसका खुलकर विरोध करे या समर्थन।"

लेनिन भी श्रेष्ठ कलाकार उसी को मानते है जो वर्ग सघर्ष की भूमिका पर निषेधात्मक सौन्दर्य परक प्रभावो को लेकर इमानदारी के साथ जीवन भर उस वास्तविकता को चित्रित करता है। जो उसका अपना उपकरण बन गया है, वे वास्तविक साहित्य उसे मानते है, जो वैयक्तिक नही, पर देश के असख्य श्रमिको के उत्थान मे सहायक है।

मार्क्सवादी साहित्य चितन, साहित्य एव कला को मात्र दर्पण नही मानता जिसमे वस्तुगत यथार्थ अपने प्रकृतिरूप मे प्रतिबिम्बित होता हो। वह साहित्य एव कला को एक रचनात्मक ज्ञाता के रूप मे स्वीकार करता है जहा वाह्य यथार्थ अपनी सारी प्रमाणिकता के साथ पुनर्रचित होता है।

सर्जना के क्षेत्र मे मार्क्सवादी विचारको का प्रधान आग्रह अपनी सपूर्ण ज्ञाता मे उस मनुष्य का चित्रण रहा है जो एक लम्बे ऐतिहासिक विकासक्रम के दौरान परिस्थितियो को बदलने के क्रम मे अपने को भी बदलता हुआ विकास की वर्तमान अवस्था पर आ गया है।

एगेल्स के अनुसार– "मार्क्सवादी समाज मे अलग से कोई चित्रकार नही होगे, अधिक से अधिक ऐसे मनुष्य ही होगे जो दूसरी बातो के साथ–साथ चित्र भी रचते हो"

मार्क्सवाद की सौन्दर्य भावना . मार्क्सवाद सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता मे विश्वास रखता है, अर्थात वह सौन्दर्य नाम के गुण को वस्तु से अलग करके नही देखता।[1]

मार्क्सवाद की मान्यता है कि उपयोगिता का तत्व सौन्दर्य तत्व से पूर्ववर्ती है

---

1 डॉ० राम विलास शर्मा– आस्था और सौन्दर्य – पृ०स–28

मनुष्य मे सौन्दर्य भावना का जन्म उपयोगिता की भावना के अर्न्तगत ही हुआ है। कला के उद्भव को विवरण देते हुए उन्होने तथा अन्य विचारको ने भलीभॉति स्पष्ट कर दिया है कि जो वस्तुये मनुष्य के लिये मूलत उपयोगी थी उन्ही को उसने सुन्दर भी स्वीकार किया। अनुपयोगी वस्तुओ का न तो उसने निर्माण किया न ही उसमे सौन्दर्य तत्व की खोज या परदा ही किया।

इस वस्तु जगत का परिचय मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा प्राप्त करता है, और विकास क्रम मे अपने अनुभवो को निरन्तर सम्पन्न व सम्बद्ध करता जाता है। यथार्थबावेध से मार्क्सवादी साहित्य चितन का आशय अपने वस्तुगत रूप मे स्थित इस वाह्य ससार को जानने व समझने से है।

सान्दर्य शास्त्र के क्षेत्र मे मार्क्सवादी मान्यता की स्थापना सर्वप्रथम चेर्निशेवस्की ने की। वह सौन्दर्य को मात्र नेत्रो की क्रिया न मानकर, नेत्र और मस्तिष्क की सयुक्त क्रिया मानते है। उनके अनुसार शोषक वर्ग सौन्दर्य का उपयोग शोषण के लिये करता है। वे सौन्दर्य को नि स्वार्थ और द्वन्द्व का परिणाम मानते है। अब सौन्दर्य को केवल कला तक ही सीमित नही रखा जा सकता है वरन सौन्दर्य का क्षेत्र विज्ञान तक प्रसारित हो गया। प्रगतिशील साहित्य को दो कार्य करने है। एक ओर उसे प्रतिक्रियावादी विचारधारा के प्रति असतोष उत्पन्न करना था और दूसरी ओर भावी समाज के लिये एक दिशा निर्देश करना था जो सारे समाज का यथार्थ होगा, और सर्वहारा वर्ग का दर्पण होगा।

मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार हमारे मनोजगत की सत्ता वस्तु जगत से स्वतन्त्र एव निरपेक्ष नही है। भौतिक परिस्थितियॉ ही हमारे मन जगत् का निर्माण करती है। जिनमे हमारे भाव विचारा आदि सभी कुछ सम्मिलित है वस्तु जगत के सपर्क से ही मन मे नाना प्रकार की सवेदनात्मक अनुभूति होती है।

अत हम कह सकते है कि हमारा मन जगत् वस्तु जगत का ही एक पक्ष है या एक अग है।

प्रगतिवादी काव्य की रूप–रेखा प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवादी मानदण्डो के आधार पर विकसित तथा विभिन्न मान्यताओ से अनुप्रेरित हुआ है।

विदेशी साहित्यकार जिन्होने प्रगतिवादी विचारधारा को उद्‌गारित किया– कॉडवेल, राल्फ फाक्स, मेक्सिम गोर्की, जार्ज थामसन, हावर्ड फारस्ट, जेम्स टी०फेरेल, आदि उल्लेखनीय है।

भारत मे 1936 मे प्रगतिवादी साहित्य की मान्यताओ की स्थापना होने लगी। प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना के बाद प्रगतिवादी समीक्षको एव लेखको की बाढ सी आ गयी, और ये वि व लेखक साहित्य को एक नयी दिशा देने मे जुट गये। ये साहित्याकार कला को उपयोगिता की तुला पर तोलने लगे, कवि को समाज पर ही लिखने पर जोर देने लगे। इस प्रकार के कवियो मे मुख्य थे शिवदान सिह चौहान, डा० राम विलास शर्मा, प्रो० प्रकाश चन्द्र गुप्त, डा० रागेय–राघव, श्री अमृतराय, डा० नामवर सिह नागार्जुन, यशपाल आदि।

प्रेमचन्द जी जो प्रथम प्रगतिशील लेखक सघ के अध्यक्ष थे वे मार्क्सवादी दर्शन के पक्षपाती नही थे, किन्तु धीरे–धीरे उनका दृष्टिकोण मार्क्सवाद से प्रभावित होता गया। वे आदर्शवाद से यथार्थवाद पर उतर आये। गोदान इसका इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है वे मार्क्सबाद का भारतीयकरण करके भारत मे लागू करना चाहते थे यही कारण है कि वे न तो आदर्शवादी रहे, न ही यथार्थवादी ही। उन्होने एक बीच का रास्ता निकाला, जिसे हम आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी भी कह सकते है।

प्रगतिवाद और सामाजिक मान्यता · साहित्य की प्रगतिवादी धारा मे सामाजिक मान्यताओ पर ज्यादा बल दिया गया। कवि का कल्पना जगत सामाजिक यथार्थ का

ही प्रतिबिम्ब अथवा मानचित्र होता है। इस प्रकार काव्य व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक सत्य की ही अभिव्यक्ति है।

कवि कितना ही प्रतिभा सम्पन्न हो, परन्तु उसमे सृजनशीलता की प्रतिभा समाज से ही उत्पन्न होती है। वही साहित्य ग्राह्य होता है, जो अपने समाज की आलोचना करता है। समाज से अलग व्यक्ति का कोई अस्तित्व नही है। समाज के प्रति रचनाकार का एक दायित्व होता है जो उसे निभाता है वही सच्चा साहित्यकार होता है।

इसी बात को हम मैक्सिम गोर्की मे देख सकते है, उसके अनुसार "कलात्मक प्रतिभा व्यक्ति विशेष मे भले हो परन्तु सृजन शीलता की वास्तविक शक्ति समाज मे ही निहित होती है, क्योकि सामाजिक सत्य का आश्रय ग्रहण करके ही उसकी प्रतिभा सुव्यवस्थित व पल्लवित होती है अत व्यक्ति के रूप मे कलाकार कोई भी हो यह अधिक महत्वपूर्ण नही है जो बात विशेष रखती है। वह यह है कि कलाकार जनशक्ति का बाहक और जनभावना का प्रतिनिधि होता है।[1]

साहित्य सामाजिक जीवन की ही अनुभूति है वह समाज के दायित्व से कभी मुक्त नही हो सकता, उसकी भावनाओ को आवाज, समाज की परिस्थितियो से मिलती है। कॉडवेल ने कला की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए लिखा है– "कला समाज रूपी सीपी से उत्पन्न मोती के दाने के समान हे। वह कला को एक सामाजिक कार्य के रूप मे ही स्वीकार करते है। केवल वही कला है जो सामाजिक कार्य समपन्न करती है"।

कवि स्वय अपने लिए नही लिखता, एक कलाकार होने के नाते उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी कला से सारा समाज आलोकित करता है। उनमे तरह–तरह की भावनाये–सामाजिक जीवन को देखने से उत्पन्न होती है, उनके भावनाओ मे भी

---

1 मैक्सिम गोर्की– लिटरेचर एण्ड लाइफ– पृ०स०– 117

विविधता समाज से ही आती है।

कवि जो कुछ भी लिखता है उसे समाज का बना देता है, यानी कवि की भावना का साधारणी करण हो जाता है अर्थात कवि की अनुभूति व्यक्तिगत न होकर सर्वसाधारण की अनुभूति हो जाती है इस प्रकार कवि के विचारो का सामाजीकरण हो जाता है।

कॉडवेल इस पर अपना विचार करते हुए कहते है– "जिसे हम कलाकार की आत्माभिव्यक्ति कहते है वास्तव मे वह आत्म समाजीकरण ही है क्योकि कलाकार कलाकृति के माध्यम से अपनी आत्म अनुभूति को एक सामाजिक स्वरूप प्रदान करते हुए स्वय भी कला मे सामाजिक जगत् का एक भागीदार बन जाता है।"[1]

मार्क्स मनुष्य को चेतन रूप मे एक ऐसा प्राणी मानता है, जिसमे वातावरण को बदल देने की क्षमता है। मनुष्य अपने आस–पास के वातावरण से ही सीखता है, उसकी चेतना का विकास भी समाज मे ही होता है। मनुष्य के विचार, भाषा, व्यवहार सभी कुछ समाज द्वारा निर्मित होते है, यही कारण है कि एक समुदाय का व्यक्ति दूसरे समुदाय से भिन्न लगता है, उसकी रहन–सहन उसकी बोल–चाल भौगोलिक वातावरण पर निर्भर करती है।

रचनाकार जो कुछ भी पाता है समाज से पाता है और उसे अपने मानिकस पटल से सप्रेषित कर समाज को वापस कर देता है, अत काव्य व कवि कर्म, मे उत्कृष्ट कौन है, उसे मैथलीशरण गुप्त के मुह से सुना जा सकता है–

राम तुम्हारा वृत्त स्वय ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

(साकेत)

काव्य के समस्त सदर्भ कवि की अनुभूति के बिम्ब कहे गये है। अर्थात कवि

---

[1] कॉडवेल–इलूशन एण्ड रियल्टी–पृ०–27

की अनुभूति द्वारा निर्मित काव्य के अनेक प्रसग उनकी तन्मयता के बोधक माने जाते है।

सप्रेषण का कार्य कवि तथा आलोचक दोनो करते है परन्तु दोनो के कार्यो मे कुछ मूलभूत अन्तर होता है। कवि एव रचनाकार मे रचना को पकडने की सहज दृष्टि होती है, एव रचना मे रागात्मक वृत्तियो का प्रादुर्भाव रहता है, उदाहरण स्वरूप जयशकर प्रसाद के ऑसू से उद्घृत दो पक्तियो देखी जा सकती है–

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा निश्वास मलय के झोके
मुख चन्द्र चॉदनी जल से, मै उठता था मुँह धो के।

जबकि आलोचक मे रागात्मकता के साथ–साथ बौद्धिक सजगता मर्मज्ञता एव काव्य के रहस्य को समझने की योग्यता का होना नितात आवश्यक है।

हिन्दी प्रगतिवादी साहित्य का स्वरूप : हिन्दी की प्रगतिवादी काव्य धारा पर मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव था, किन्तु मार्क्सवाद और प्रगतिवाद दोनो एक दूसरे के पर्याय नही है एक मार्क्सवादी कलाकार का प्रगतिवादी होना तो अनिवार्य है परन्तु एक प्रगतिवादी कलाकार का मार्क्सवादी होना अनिवार्य नही है। भारत मे बहुत से कलाकारो (साहित्यकारो) ने मार्क्सवाद के जीवन दर्शन को स्वीकार नही किया, लेकिन समाज के शोषित, दलित वर्ग का चित्रण और सामाजिक जीवन के स्वस्थ्य उपयोग के द्वारा जनकल्याण का समर्थन किया एव मानवतावाद और समाजवाद का जय–घोष किया। अत वे भी प्रगतिवादी कहलाये।

डा० रागेय राघव के शब्दो मे–"प्रगतिशील साहित्य का सृजन करने के लिए यह आवश्यक नही है कि लेखक मार्क्सवादी ही हो, वह मानवतावादी भी हो सकता है, किन्तु उसे ईमानदार रहना आवश्यक है[1] इससे यह साबित हो जाता है कि प्रगतिवाद कोई सॉचा या लीक नही है, जिसके दायरे मे ढला या चला जाय। लोकचेतना एव

---

[1] डा० रागेय राघव–प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड– पृ०-14

जनवाणी, से सयुक्त होकर कोई भी कलाकार एव साहित्यकार प्रगतिवादी कहला सकता है।

जिस साहित्य मे हमारे जीवन की समस्याये न हो, हमारे अर्न्तमन को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल स्थूलता, मासलता का मात्र लोथडा हो, जो मात्र जिन्सीभावो मे गुदगुदी पैदा करने के लिए रचाा गया हो, वह एक निर्जीव साहित्य है। वह तत्वहीन, प्राणहीन साहित्य की कोटि मे आता है। साहित्य मे हमारी सोई आत्मा को जगाने की, मानवता को सचेत करने की, रसिकता को लुप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। वह साहितय जो हमे विलासित के नशे मे डूबा दे, जो जीवन के प्रति वैराग्य पैदा कर दे, जो हमे निराशावाद की ओर ले जाय, जिसके अनुशीलन से सासारिक वातावरण दु ख की दरिया बन जाय, और उससे निकल भागने मे हमारा कल्याण हो, जो मात्र लिप्सा और भाउकता मे डूबी हुई कथाये लिख कर कामुकता को भडकाये ऐसा साहित्य निर्जीव होता है।[1]

इस प्रकार मार्क्सवाद और प्रगतिवाद मे थोडा भेद है, परन्तु उनमे जो समानता है, वह है शोषित के प्रति लगाव, मानवतावाद, वर्ग चेतना का विकास, साहित्य का लोकोन्मुखी होना आदि।

प्रगतिवादी साहित्य का अर्थ : जिस प्रकार समाजवाद का अर्थ है, मनुष्य के जीवन का सामाजिकरण वैसे ही प्रगतिवाद का अर्थ है–साहित्य का समाजीकरण। इसे और सरल शब्दो मे कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद का आशय मात्र साहित्य मे व्यक्ति के सुख–दुख, जन्म–मरण, आशा–निराशा, उल्लस–वेदना आदि का साधन बनना कदापि नही है, इसका आशय समाज की पीडा, ग्लानि, उतार चढाव, हर्ष उद्वेग उमग व कौतुहल को वाणी देना है। प्रगतिवाद का उद्‌देश्य समाज का विकास है।

---

1 एक भाषण–प्रेमचन्द–आर्य भाषण सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर मे दिया गया भाषण– हस – फरवरी 1937

प्रगतिवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पोषक तथा व्यक्तिवाद का शत्रु है। प्रेमचन्द जी ने अपने सभापतित्व मे प्रगतिशील लेखक सघ के प्रथम अधिवेशन मे कहा था– 'हमारे पथ मे अहम्वाद व्यक्तिगत दृष्टिकोण, को प्रधानता देना वह प्रक्रिया है जो हमे जडता, पतन की ओर ले जाती है और ऐसी कला न हमारे लिए व्यक्ति रूप मे उपयोगी है और न समुदाय रूप मे। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थितियो के विकास मे उपयोगी बनाता है। प्रगतिवाद के अन्दर यह सौन्दर्य की भावना व्यापक हो जाती है। उकसी परिधि किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित नही होती, तभी ऐसा लगता है जैसे जन–जन के जीवन मे व्याप्त कुरूपता, कुरूचि, नगापन, और अभाव हमारे अपने ही है, और क्यो हम ऐसी व्यवस्था की जडे खोदने के लिए कटिबद्ध नही होते। जिसमे हजारो आदमी कुछ चुने हुए की गुलमी करते है।"

प्रगतिवाद की मान्यता है कि कला कोई स्वतन्त्र तत्व नही है जो अपने ही उपर जिन्दा रह सके बल्की वह समाजिक मनुष्य के उपयोग का नतीजा है और उसके जीवन व वातावरण से सम्बन्धित है। ऐतिहासिक प्रगतिवाद का एक सर्वमावन्य सिद्धान्त है कि मनुष्य का विकास समाज की दिशा मे होता है और समाज का विकास इतिहास की दिशा मे होता है।[1]

प्रत्येक वर्ग अपने लिए अलग से कला नही पैदा करता और न ही वातावरण का हर परिवर्तन कला मे परिवर्तन ला सकता है, वास्तव मे मनुष्यो का कलात्मक उपयोग एक पूर्ण और सिलसिलेवार चीज है, जो द्वन्द्वात्मक है और भीतरी टूट फूट से स्थापित होती है।

प्रगतिवादी साहित्य मे हमे जिन वस्तुओ की झलक मिलती है वे है–

1 पूँजीवाद के अन्तर्विरोधो, उनकी असमाजिक कार्यवाही की दुर्बलताओ को

---

1 प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड–डा० रागेय–राघव– पृ०–13

सामने लाना।

2 ईश्वर, धर्म, रूढि आदि सामन्तयुगीन आदर्शों के विरूद्ध यथार्थवादी विचारधारा का प्रसार करना है।

3 वर्गहीन समाज की, उच्च व पूर्ण सस्कृति एव व्यवस्था का स्वर्णिम चित्र सम्मुख करना है। उसके प्रति मिथ्या आशकाओ को निर्मूल कर जनता के विश्वास को अपने प्रति दृढ करना है।

4 भूमिपतियो, धर्म के ठेकेदारो, पुजारियो, पादरियो, मुल्लाओ, सामन्तवाद के दलालो तथा जनता को गुमराह करने वालो के प्रति जनता के श्रद्धा मूलक दृष्टिकोण को समाप्त कर जनवादी व्यवस्था के प्रति उसे वफादार बनाना है।

5 वर्ग सघर्ष की चेतना को जगा कर सामन्वादी पूँजीवादी व्यवस्था को नष्ट करने के लिए, जनता को क्राति की आवश्यकता समझा कर उसके लिए सर्वस्व त्याग की भावना को दृढ करना है।

6 सपूर्ण प्रगतिशील सस्थाओ, व्यक्तियो तथा विचारधाराओ को सहयोग देकर जनवाद की प्रतिष्ठा को बढाना है।

7 मानव की स्वभाविक प्रवित्तियो पर अब तक जो आवश्यकत दबाव था, उसे समाप्त कर उन्हे स्वाभाविक रूप से स्पष्ट करना है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उन्हे असमाजिकता के पथ पर डाल कर मानव को प्रवृत्तियो का दास बनाना है।

8 और अन्त मे, वस्तु को उसके यथार्थ रूप मे देखकर उसका यथार्थ चित्रण करना है। जगत् के प्रति रोमाटिक दृष्टिकोण असामाजिक है।[1]

मानव जीवन जन्म–मृत्यु के बीच का द्वन्द्व है, जब मनुष्य जन्म लेता है, या गर्भ मे आ जाता है वही से यह द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है, कुछ अज्ञात शक्तिया उसे

---

1 हिन्दी साहित्य के प्रमुख वाद एव उसके प्रेवर्तक–विश्वम्भर नाथ उपाध्याय–पृ०-126

मृत्यु की ओर ढकेलती है, जबकि मानव लगातार इससे सघर्ष करते हुए जिजीविषा लिए प्रगति की ओर बढता जाता है, और मानव जाति के वश क्रम मे अमरत्व का वरण करता रहता है।

प्रगति मानव स्वतत्रता के समाजिक विस्तार का ही दूसरा नाम है, और ससार की सभ्यता का इतिहास समस्त मानवीय सघर्षो का इतिहास तथा मानव स्वतत्रता के समाजीकरण का इतिहास है।

"कोई भी युग सत्य द्वन्द्व से परे नही हो सकता, आज के युग का सत्य है– एक तरफ जनता साम्रज्यवाद से मुक्ति के लिए सघर्ष कर रही है, दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकते और उनके हिमायती उसे दबाने और गुलाम बनाने की कोशिश कर रहे है। इस द्वन्द्व मे कलाकार किसी अद्वैत युगीन सत्य का सहारा न ले कर जनता या उसके विरोधियो का पक्ष लेता है। इसीलिए स्वभावत प्रगतिशील न होकर उसे युग विशेष और समाज विशेष के सघर्ष मे जनता का पक्ष लेने पर ही प्रगतिशील कहा जा सकता है।"[1]

डा० नगेन्द्र के अनुसार– ससार का मूलाधार पचभूत (मैटर) है, पचभूत का अर्थ है– पदार्थ, ससार के सभी दृश्य सभी सूक्ष्म, स्थूल रूप पदार्थ द्वारा निर्मित है। शरीर की परिचालिका शक्ति मस्तिष्क है। मस्तिष्क भी शरीर की अन्य इन्द्रियो की भॉति भौतिक ही है। बाह्य जगत की घटनाओ की हमारी इन्द्रियो पर प्रतिक्रिया होती है, और इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक कम्पन होता है, शरीर का वह सूक्ष्मतम व सबसे विकसित अवयव, जो इस कम्पन का अनुभव व समन्वय करता है, मस्तिष्क कहलाता है। आत्मा कोई निरपेक्ष सत्ता नही है, अधिक से अधिक उसे मस्तिष्क के आगे की एक विकसित अवस्था मात्र माना जा सकता है। यह स्वभाव से ही गतिशील है। इसमे गति उत्पन्न करने के लिए किसी ब्रह्म की आवश्यकता नही पडती। वह तो

---

1 प्रगतिशील साहित्य की समस्याये– डा० राम विलाश शर्मा– पृ०–6

पदार्थ के अन्तर्गत वर्तमान विरोधी तत्वो के सतत् सघर्ष का सहज परिणाम है। जिस प्रकार जगत् को उत्पन्न करने के लिए किसी अधिदैविक शक्ति की आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार उसके सरक्षण व विनाश के लिए भी किसी ब्रह्म की आवश्यकता नही होती। क्योकि जो पदार्थ परस्पर विरोधी शक्तियो के सघर्ष के परिणाम स्वरूप स्वय गतिशील है, उसमे स्वस्थ्य रूप का उद्‌भव और अस्वस्थ्य रूप का लय आप से आप होता रहता है। इसीलिए विश्व मे केवल एक ही सत्ता है, वह है–अधिभौतिक। गति की प्रेरक इन्ही परस्पर विरोधी शक्तियो के, (जो स्वय वस्तु ने विद्यमान रहती है) सघर्ष या द्वन्द्व का अध्ययन करते हुए जीवन विकास का अध्ययन करना ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है, और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है, जो जीवन को एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता मानता है, जिसके मूल मे विरोधी शक्तियो का सघर्ष चल रहा है।[1]

प्रगतिवादी दर्शन मे जडता एव निष्क्रियता का कोई स्थान नही है। वह प्रत्येक स्थान मे जीवन का सदेश देता है। वह हर परिस्थितयो मे जीवन को चुनता है। उसमे मृत्यु की जडता का स्थान नही है। वह किसी परोक्षता मे विश्वास नही करता, जो प्रत्यक्ष घटित होता है, वही वास्तविक है वही शश्वत है वह अपेन परिवेश से ही यह सब ग्रहण करता है।

प्रगतिवादी जीवन दर्शन का मूलमत्र है परिवर्तन। यह परिवर्तन एक सतत् प्रक्रिया के रूप मे आ सकता है और एक आकस्मिक विस्फोट के रूप मे भी आज सकता है।

प्रगतिवाद भौतिक जीवन को अपना कर चलता है और भौतिक जीवन की सबसे प्रमुख सस्था है समाज। मनुष्य समाज मे रहता है और समाजिक विषमता (जिसका मूल है 'अर्थ') से सघर्ष करता हुआ निरन्तर गतिशील रहता है।

---

1 आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियॉ–डा० नगेन्द्र– प्र०स०–1951– पृ०-99

साहित्य सामाजिक विधान का एक सक्रिय अग है अतएव इस समाज व्यवस्था के सरक्षण मे उसे सक्रिय योगदान देना चाहिए, हमारे समाज की जागृत शक्तियॉ वे लोग है, जो अब तक शोषित व दलित रहे है। प्रगतिवादी साहित्य उनकी सहायता करता है। उनके पक्ष मे आन्दोलन करता है, उकनी शक्ति को सगठित करता है, उनकी पीडा को मुखर करता है और उन पर होने वाले अत्याचार का तीब्र विरोध करता है।

इस प्रकार प्रगतिवादी जीवन दर्शन कर्म का जीवन दर्शन है और प्रगतिवादी साहित्य कर्म या सघर्ष का साहित्य है।

प्रकृति के विरूद्ध जब मानव अपने नीजी हित चितन के द्वारा औरो को भूखा, नगा लाचार बना देता है तो प्रकृति अपना कार्य आरम्भ कर सब कुछ बराबर कर देती है। इससे अधिक प्रकृति के विरूद्ध और क्या हो सकता है कि बच्चा बूढो पर हुक्म चलाये, एक पागल ज्ञानी को राह दिखाये, और मुट्ठी भर लोग विलासिता का जीवन बिताये, बाकी समुदाय नगे भूखे रह जाये।[1] यही से प्रारम्भ होता है, प्रगतिवाद का समाजिक द्वन्द्व ये विषमता ही सघर्ष का कारण बनी जिसमे सारा साहित्य डूब गया। मार्क्स ने कहा है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग द्वन्द्वो का इतिहास है, काल विशेष मे यह सघर्ष समाजिक असगतियो की उपस्थिति के कारण स्वय एक क्रिया बन जाता है जो उस समय स्थापित सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध एक विस्तृत अन्तर्विरोध की उपस्थिति के कारण स्वय एक क्रिया बन जाता है, जो उस समय स्थापित सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध एक विस्तृत अन्तर्विरोध के रूप मे चलती है।

हमारे देश मे धर्म के नाम पर अनेक अन्ध विश्वास प्रचलित है, जिनका फायदा उठाकर धर्म के ठेकेदार आबेध–मासूम, जनता का शोषण करते है, प्रगतिवादी साहित्य इन्ही शोषण की जघन्य प्रवृत्तियो और उनकी वास्तविकताओ का विरोध करता है।

---

1 रान्सो–असामानता पर एक भाषण का अश।

जो व्यवस्था विश्व बन्धुत्व के लिए खतरा है, जो मानव प्रेम मे व्यवधान डालती है, जो व्यवस्था वर्ग भेद, जातिभेद को बढावा देती है, ऐसी व्यवस्था का प्रगतिवादी साहित्य विरोध करता है। मनुष्य का लक्ष्य प्रकृति पर विजय है, वह प्रकृति के रहस्यो को अपने वैज्ञानिक अनुसधान द्वारा उजागार करता जा रहा है, तथा भौतिक सुख सुविधाओ को इकट्ठा करता जा रहा है, परन्तु विडम्बना तब उत्पन्न होती है जब इनका उपभोग समाज का छोटा सा वर्ग ही करता है, क्योकि वह सर्व साधन सम्पन्न होता है दूसरी ओर सर्वहारा को रोटी, घर–परिवार की चिता होती है वह विकास मे बहुत पीछे छूट जाता है, उसका जीवन पशुओ से थोडा ही ऊपर होता है, यह व्यवस्था का दोष होता है। समाज का एक बडा भाग नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त होता है। इनती वेदना के बाद भी वह क्यो चुप रहता है? अन्याय सहता है? इसका एक ही उत्तर है, व्यवस्थाकारो ने धर्म का डर देकर, उनको पाप का डर देकर–उन्हे शोषित रहने को मजबूर कर दिया। इस प्रकार प्रगतिवादी इस पाखण्डी धर्म–तत्र का जाल तोडकर कर समाज का विकास करने का प्रयत्न करता है यही कारण है कि उसे धर्म तथा ईश्वर विरोधी बताया जाता है।

प्रगति का जीवन श्रोत सदैव सामाजिक सघर्ष मे है। प्रगतिशील कविता मे सामाजिक यथार्थ को एक विशिष्ट वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी समाजवादी दृष्टि से ग्रहण किया गया, और इसीलिये इन कवियो ने हर समस्या के अन्त स्थल मे प्रवेश किया। इतना ही नही एक वर्ग विहीन समाज व्यवस्था की स्थापना के रूप मे इन समस्याओ का समाधान खोजकर एक साम्यवादी समाज की स्थापना का रास्ता भी सुझाया, समाजवादी यथार्थवाद सामाजिक विषमताओ के मूल की तह तक जा कर उनके कारणो का पता लगता है और फिर उसे समाप्त करने की प्रतिक्रियात्मक हल भी प्रस्तुत करता है। इसके लिये अपने साहित्य मे वह ऐसे समाजो का चित्र उपस्थित करता है जिसमे निम्न श्रेणी के उपेक्षित लोग हो, और अपने जीवन यापन के लिए

प्रस्तुत विषम परिस्थितियो से सघर्ष मे सतत् क्रियाशील हो। कवि की दृष्टि सहसा वर्ग सभ्यता के मदिर के निचले तल मे वातायनो पर जाती है, जो ध्यान से देखने पर किसान की दो आखे ज्ञात हुई। अन्धकार की उस गुहा सरीखी उन आखो से आखे मिलाने का साहस कवि को न हो सका, उसमे उसे मरघट का तम दिखाई पडा उन आखो मे उन किसानो के बेदखल खेत, और फिर करकूनो की लाठियो से लहू–लुहान मारा गया किसी किसान का जवान लडका, बिना दवा के पछाडे खाती गृहणी, कोतवाल द्वारा गर्भिता विधवा पतोहू, कुर्क हुई धवरी गाय–सब कुछ साकार हो उठा और इस याद मे फिर कवि को दया की भूखी ऑखे ऐसी लगी जैसे–''**तुरन्त शून्य मे गड बह चितवन तीखी नोक सदृश बन जाती।**''

प्रगतिवादी कवि सौन्दर्य को मात्र अपने हृदय मे न देखकर प्रत्येक व्यक्ति मे देखता है, और तमाम सामाजिक स्वास्थ्य मे देखता है। कवि के अह का सामाजीकरण हो जाता हे। उसमे वैयक्तिकता को कोई स्थान नही रह जाता, युग के बदलने के साथ ही आदर्श और मूल्य भी बदल जाते है। तभी वह विकसित होते है। अन्यथा रूढि बन जाते है। जो नये मानदण्डो पर खरे नही उतरते और नवीन चेतन व्यक्तित्व को मान्य नही होते। डा० नगेन्द्र ने लिखा है– "दृष्टिकोण बदल जाने से आदर्शो व मूल्यो का बदल जाना अनिवार्य है, आज सत्य से तात्र्य है– भौतिक वास्तविकता, शिव से तात्पर्य है भौतिक जीवन, और सुन्दर से तात्पर्य है– स्वाभाविक एव प्राकृतिक।[1]

आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी कविता को समाज सापेक्ष मानते है, उन्हे भी कविता की वैयक्तिकता स्वीकार नही, कविता का उद्देश्य सामाजिक जीवन मे व्यक्ति को उन्नतिशील बनाते हुए निरन्तर विकास का मार्ग प्रशस्त करना है, सामाजिक निष्क्रियता बाजपेयी जी को स्वीकार नही। कविता अपने सामाजिक दायित्व से मुँह

---

1 आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियॉ डा० नगेन्द्र–प्र० स०–1951–पृ०–102

नही मोड सकती। वह सारा साहित्य जो व्यक्तिगत चरित्रिक विशेषताओ, ससाधारण परिस्थितियो, एकान्तिक मनोविज्ञान और सामाजिक निष्क्रियता एव उद्देश्यहीनता का निरूपक है, चाहे वह साहित्य दृष्टि से कितना ही प्रशस्त व ललित क्यो न हो, मेरी अपनी रूचि के अनुकूल नही । वह परिपूर्ण कला जो शून्य का चित्रण करती है हमे उतनी नही भाती, जितनी वह अपूर्ण कला जो जीवन का जागृत अलख हमारे कानो को सुनाती है।[1]

इस प्रकार अपने युग के आइने को ठीक–ठीक प्रदर्शित करने के लिए कवियो ने सामाजिक यथार्थ का सहारा लिया। समाज की सभी वास्तविकताये अपने नग्न रूप मे साहित्य मे प्रश्रय पाने लगी। किन्तु जो लोक समाजवादी यथार्थ को जड नियमो को कटघरा बना कर कला सृजन को उसमे बदी करना चाहते है प्रगतिवादी विचारक उनका विरोध करता है। उनके विचार से समाजवादी यथार्थ एक ऐसी शक्ति है जो कलाकार को जन जीवन के निकट लाकर उसे जीवन्त व सदा नये विचारो से युक्त कला सृजन की प्रेरणा देती है। यथार्थ का आग्रह है कि लेखक यथार्थ का सच्चाई व इमानदारी के साथ चित्रण करे। जिन्दगी मे जो असगितियॉ अथवा अन्तर्विरोध है उन्हे समझे। प्रगतिशील व प्रतिभागी शक्तियो के सतत् चलने वाले सघर्ष को परखे और अपनी कृति मे सजीव चित्र दे। जो नया व टिकने वाला है, उसका समर्थन करे, जो पुराना व ढहने वाला है उसका विरोध करे, यही सच्ची प्रगतिवादी यथार्थ दृष्टि है।

प्रकृतवादी यथार्थ दृष्टि मे इमानदारी होते हुए भी पस्ती, मुर्दनी, घुटन व एकागिकता है। जबकि समाजवादी यथार्थवादी दृष्टि उन कारणो को भी टटोल कर सामने लाती है जिन्होने जिदगी मे अधेरा मासूमियत का कोढ पैदा किया है।[2]

इस प्रकार प्रगतिवाद शोषण की प्रवृत्ति का विरोधी है साथ ही साथ वह

---

1 आधुनिक साहित्य–भूमिका–नन्ददुलारे वाजपेयी।

2 नया हिन्दी काव्य– शिव कुमार मिश्र– पृ० स०–159

वर्गभेद, जाति भेद का भी विरोध करता है, सौन्दर्य के प्रति उसका दृष्टिकोण जनवादी है वह वैयक्तिक सौन्दर्य का विरोध करता है। प्रगतिवाद का समाजिक धरातल इन विशेषताओ के साथ अपने युग का आइना है, जिसमे यथार्थ न्याय, समानता, सहिष्णुता आदि को स्पष्ट देखा जा सकता है।

कला व साहित्य का भविष्य तभी सुरक्षित रह सकता है जब उसमे आधुनिक जीवन का सघर्ष चित्रित हो, और पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट कर साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था का पक्ष लिया गया हो, और उसके लिये कला और साहित्य को एक सचेत क्रिया बनाना आवश्यक है। अर्थात् साहित्य की सृष्टि मे द्वन्द्वमयी विचार–धारा हो, और साहित्य का ताना–बाना सामाजिक यथार्थ से बुना गया हो।

एक शिक्षित युवक बेकार है, एक तरूण विधवा आजीवन अविवाहित रहने को महबूर है, एक प्रतिभाशाली व्यक्ति सारा जीवन कलर्की मे खपा देता है जबकि उसके उपर के जो अफसर है वे निरे मूर्ख है, एक मजदूर दस घटे काम करके भी अपने परिवार को नही पाल पाता, एक किसान धरती से सोना पैदा करके भी कर्ज से लदा है। एक प्रेमी अपनी प्रेमिका से इस लिये एक–सूत्र मे नही बधता कि दोनो की आर्थिक स्थिति मे वैषाम्य है या दोनो अलग–अलग जाति के है। इस सामाजिक व्यवस्था मे प्रेम का कोई आधार नही है, अर्थात व्यक्ति को वर्गों मे, पैसो मे, झूठे सस्कारो मे, सामाजिक मर्यादाओ मे इस प्रकार बाध दिया गया है, जो न तो आज वैज्ञानिक है और न ही सामाजिक प्रगति मे सहायक, इस प्रकार साहित्य का ये कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह खोज करे कि विषम परिस्थितियॉ क्यो उत्पन्न होती है? इसके उत्पन्न होने के क्या कारण है? उन्हे किस प्रकार अपने अनुकूल बनाया जा सकता है।

केवल थोडे से वर्ग की चीज बन कर साहित्य किस प्रकार जीवन से टूट जाता है, और रूढियो व रीतियो के गहन जाल मे घुटता रहता है, यह विश्व साहित्य के इतिहास मे हर जगह देखा जा सकता है[1]

प्रगतिवाद के सामाजिक धरातल पर सभी ने अपेन विचार व्यक्त किये है। प्रगतिवाद समाज का प्रतिनिधित्व करता है। ये बात सभी ने स्वीकार की है प्रगतिवाद वर्षो से धधक रही विद्रोह की ज्वाला है जो उचित समय आने पर फूट पडी। प्रगतिवाद का सामाजिक पहलू है, मनुष्य की आत्मा की चिक्कार। समाज की नीव डालने मे जो भूले रह गयी है वे नियति की अनिवार्यता नही वरन् दुनिया की पूँजीवादी सभ्यता के शोषण की खुबियॉ है। जिनके सहारे समाज टूट–फूट कर जीर्ण और दरारो मे भरे हुए एक विशाल घर की तरह बन कर खडा है।[2]

जीवन सच्चा वही है जो मानवता को कराहता हुआ देख कर ज्वालामुखी की तरह धधक उठे। वर्तमान समय की कुरूपताओ से हट कर भावी समाज की कल्पना की ओर दौडने वाले स्वप्नदर्शियो को यह कभी नही भूलना चाहिए कि समाज का आधार व्यक्तियो के सद्‌गुणो पर नही हुआ करता बल्कि एक प्रणाली पर होता है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को परिमित करके दोषो का निग्रह किया जाता है।

---

1 समाज और साहित्य–अचल–प्रगतिवाद ही क्यो?– पृ०–5

2 समाज और साहित्य–अचल–प्रगतिवाद एक अनुशीलन– पृ०–25

प्रगतिवादी काव्य की प्रवृत्तियॉ

प्रगतिवादी साहित्य के निर्माण के कुछ मानदण्ड थे, जिन्हे अपना कर प्रगतिवादी रचनाये की जा रही थी, प्राय इन्ही विशेषताओ से परिपूर्ण साहित्य को प्रगतिवादी साहित्य कहा गया, जिनकी प्रवृत्तियॉ निम्न थी।

मार्क्सवादी सिद्धान्तो का प्रचार रूसी समाज के समान ही भारतीय समाज मे अमर–गरीब, शासक व जनता, उच्चवर्ग एव निम्नवर्ग, जमीदार एव किसान, मिल मालिक एव मजदूरो आदि मे सघर्ष चल रहा था, रूसी क्रान्ति की सफलता से भारतीय समाज मे यह विश्वास उमडा कि मार्क्स के सिद्धान्तो के प्रतिफलन से ही वह अपने देश की विषमता का अन्त मानने लगे। अत मार्क्स के सिद्धान्तो की काव्य मे अीभिव्यक्ति होने लगी, और कुछ कवि मार्क्स के सिद्धान्तो से पूर्ण रूपेण युक्त साहित्य को ही प्रगतिवादी साहित्य मानने लगे, और उसका प्रचार करना ही उनका ध्येय हो गया।

रूस की प्रशसा : इस धारा के कवियो ने रूस की प्रशसा मे खूब गीत गाये, वहॉ की लाल सेना को श्रद्धा के फूल अर्पित किये, कुछ कवियो ने रूस के गीत अत्यधिक गाये तथा उसे ही सब कुछ माना। सम्पूर्ण विश्व मे साम्राज्य वाद का आतक फैला था, इस आतक को सर्व प्रथम रूस मे खत्म किया गया, रूस के किसान व सैनिको ने मिलकर जारशाही का अन्त कर दिया। रूस की समाजवादी क्राति पर श्यामचरण राय ने लिखा है– बडी जनसख्या व वैभवशाली रूस जल्द ही विश्व की महाशक्ति बन जाय तो इसमे शक नही। कवि नरेन्द्र शर्मा ने रूस की प्रशसा मे लिखा है–

चौथा खण्ड सोवियत, जिसका इलम लाल सितारा,
जहॉ डूबती मानवता को, मिलने लगा किनारा।

सामाजिक यथार्थ का चित्रण : सामाजिक यथार्थ का चित्रण तो हिन्दी साहित्य मे

बहुत पहले से होता आया है, परन्तु प्रगतिवादी साहित्य का जिस समय जन्म हुआ देश मे अराजकता का माहौल था, सामाजिक अव्यवस्था अपने विकराल रूप मे व्याप्त थी रूढिया, भुखमरी और अकाल का वतावरण समाज मे व्याप्त था। ऐसी स्थिति मे कवि कर्म समाज का सजीव, तथा यथार्थ चित्रण करना था और कविगण ने यह यथार्थ चित्रण कर समाज का ध्यान इस ओर अवश्य आकृष्ट किया–

चाट रहे जूठी पत्तल वे, कभी सडक पर खडे हुए
और झपट लेने को उनसे, कुत्ते भी है अडे हुए।[1]

× × ×

बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर, हो रही अनरीति बर्बर
राष्ट सारा देखता है, बाप बेटा बेचता है[2]

(बाप बेटा बेचता है)

राष्ट्र प्रेम की भावना : भारतेन्दु युग से चली आ रही राष्ट्र प्रेम की भावना को प्रगतिवादी दौर मे एक नया रूप मिला, एक ओर गाधीवाद था तो दूसरी ओर मार्क्सवाद था ये दोनो धाराये स्वतत्रता आन्दोलना को अपने–अपने ढग से बल प्रदान कर रही थी इनके प्रभाव से एक शुद्ध राष्ट्रीय काव्य धारा का जन्म हुआ, जिसने विदेशी शोषण का खुलकर विरोध किया, इन कवियो की रचनाये देश प्रेम व उत्साह से भरी हुई थी। इनकी वाणी जैसे आग उगल रही थी जैसे दिनकर व सनेही कवि विदेशी शोषण तथा भारतीय समाज मे व्याप्त भुखमरी का सजीव चित्र खीच रहे थे–

यथा

---

1 सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला– परिमल–ग्यारहवॉ स०–1969– पृ० स०–125
2 केदार नाथ अग्रवाल– बाप बेटा बेचता है–(प्रगतिशील काव्य साहित्य)–1972– पृ० स०–98

ककाल

हड्डियो के रक्तहीन मासहीन ककाल

मासल बलिष्ट नही भुजाये, रक्त भी नही है

कपोलो पर

परतन्त्र देश के युवक है

× × ×

कहाँ है जीवन, कहा है चिरन्तन आत्मा?

हड्डियो का सघर्षण जीवन है,

हड्डियो मे बसा हुआ ताप ही

आत्मा है।[1]

(हड्डियो का ताप)

सामाजिक समस्याओ का चित्रण : डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसा– समाज के भीतर जो जीर्ण व मरणशील तत्व है इनसे बाहर सौन्दर्य की सत्ता नही है। जो जीर्ण व मरणशील है उनके लिये सौन्दर्य मृत्यु मे है अन्याय व अत्याचार की जडे ढूढने मे है, भविष्य से तृप्त होने और क्षण मे ही जीवन की साधे पूरी करने मे है। अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया बदलने मे है। साहित्य उस मजिल तक पहुँचने का शक्तिशाली साधन है।[2]

मार्क्सवादी दृष्टि से समाजिक समस्याओ का आशय–भौतिक परिस्थितियो और उन परिस्थितियो मे उत्पन्न जन जीवन की समस्याओ से है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त भौतिक परिस्थितियो और विचारो का सबन्ध नीव व उस पर खडी इमारत के समान मानते है। यदि आर्थिक व सामाजिक सम्बन्ध नीव है तो ज्ञान, विज्ञान, दर्शन साहित्य, और कला नीव के आधार पर खडी इमारात के समान है।[3]

---

1 डा० रामविलाश शर्मा– 'हड्डियो का ताप' तारसप्तक–प्रथम स०–1943– पृ० स०–69

2 लोक जीवन व साहित्य– पृ० स०–15 प्रगतिवादी काव्य साहित्य से लिया गया।

3 साहित्य धारा–पृ०–1

समसामयिक परिस्थितियो पर कवियो की लेखनी खुल कर चली है यथा–

जिसे समझता था अनहोनी
वही सत्य वन व्यग कर गयी,
खुलेआम सडको पर मानवता
कुत्तो की मौत मर गयी।[1]

साम्राज्यवाद के विरूद्ध विद्रोह साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरोध मे ही प्रगतिवाद का जन्म हुआ था, जिसका उद्देश्य साम्यवाद था, जहा मजदूरो का राज्य हो, सपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार न होकर, समाज का अधिकार हो, एक ऐसा समाज जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को अपने तरह से जीने का अधिकार हो, किसी प्रकार का बन्धन न हो, जहॉ कोई वर्ग न हो, जहॉ समाज की रचना श्रम पर आधारित हो अपने इन विचारो को कवि वाणी प्रदान करता हुआ कहता है–

वस्त्र का अम्बार रचनता जा रहा हूँ,
पर न टुकडा एक तन को पा रहा हूँ।
नग्न बच्चे चिथडो मे हाय नारी,
सिसकती है, पर न कुछ कहती विचारी,
उठो विश्व के मजदूरो बाज उठा क्राति का शखनाद।[2]
× × ×
वह राज काज जो सधा हुआ है इन भूखे कगालो पर
इन साम्राज्यों की नीव पडी है, तिल–तिल मिटने वालो पर
वे व्यापारी जमीदराजे है लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष, सूदखोर, पीते मनुष्य का उष्ण रक्त[3]

निम्न वर्ग शोषित व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति · हिन्दी महाकाव्यत्व की यह विशेषता रही कि काव्य का नायक राज्यकुल का हो, काव्य का उद्देश्य, धर्म, अर्थ,

---

1 डा०शिवमगल सिह 'सुमन–विश्वास बढता ही गया–द्वितीय स०–196 पृ०–90
2 प्रो० कृष्ण लाल हस– प्रगतिवादी काव्य साहित्य–प्रथम सस्करण जुलाई–1971–पृ०–122
3 भगवती चरण वर्मा– 'हस मासिक पत्रिका–मई– 1949

काम, मोक्ष मे चारो या किसी एक की प्राप्ति हो, वर्ण–व्यवस्था सस्कार, आश्रम आदि का जिसमे अवश्व उल्लेख हो वह उच्च कोटि का काव्य माना जाता था, परन्तु प्रगतिवादी साहित्य इनका घोर विरोध करता हुआ समाज के कमजोर, दलित समाज को आधार बना कर रचनाये करने लगा, समाज का वह तबका जो सभ्य नागरीय जीवन को रोटी देता है उनका चित्रण करता है, जो स्वय ताजमहल का निर्माण करता है पर फुटपात पर सोता है, प्रगतिवादी काव्य उनका चित्रण करता है–

इस युग प्रवर्तन के सूत्राधार बने छायावाद के स्तम्भ कवि पत व निराला। रचनाशीलता को सामान्य जन की आशाओ, आकाक्षाओ से जोडक उसे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति के रूप मे रेखाकित कर सौन्दर्य और कल्पना के वायवीय जगत से उतार कर युग जीवन के यथार्थ का भरा पूरा प्रेरणास्रोत देकर उसने वह जमीन अवश्य तैयार की जिस पर महत उपलब्धियो की इमारत का निर्माण किया जा सके।[1] कवि पन्त की बदली हुई दृष्टि 'युगान्त' मे दृष्टिगोचर हुई और 'ग्राम्या' मे आकर स्पष्ट हो गयी, यद्यपि पत मे प्रगतिशीलता महज बौद्धिक अनुभूति के रूप मे उभरी किन्तु ग्राम्या के कुछ चित्र नि सन्देह मार्मिक बन पडे। पत की तुलना मे निराला प्रगतिवाद के अधिक नजदीक जान पडते है, जन जीवन के अत्यन्त सरल चित्र कवि की जन सामान्य के प्रति जुडी आस्था के प्रतीक है। निराला और पत प्रगतिशील कविता की सुदृढ नीव का निर्माण करते है और उस पर नयी पीढी प्रगति की इमारत तैयार करती है। सकीर्ण व्यक्तिवादिता के स्थान पर प्रशस्त सामाजिकता, अतिशय कल्पना, रहस्य तथा अध्यात्म के स्थान पर जीवन के यथार्थ एव समाज के सुख–दुख तथा लोक जीवन के अन्यान्य पक्षो को लिये हुए इन कवियो मे जीवन एव लक्ष्यो के प्रति अपार आस्था थी। इस विघटित व विषमतायुक्त समाज मे एकमात्र इनका सहारा इनका उच्च मनोबल ही था–

---

1 हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका–प्रभाकर श्रोत्रिय पृ०–144-145

दाना आये घर के भीतर बहुत दिनो के बाद
धुआ उठा ऑगन मे ऊपर, बहुत दिनो के बाद,
चमक उठी घर भर की ऑखे, बहुत दिनो के बाद,
कौवे ने खुजलाई पाखे, बहुत दिनो के बाद[1]

मजदूरो के जीवन का चित्रण करते हुए कवि लिखता है–

सुख खो कर इनको जीवन मे, हृदय विदारक त्रास मिला,
महलो को देकर इसको बस, कुटियो का आवास मिला।
दैत्याकार मशीनो मे इनका, अनन्त अस्तित्व छिपा,
उस महान दृढता मे इनका ही, महान अमरत्व छिपा।[2]

परिवर्तन और क्राति का आह्वान : समाज मे ऐसी अनेक व्यवस्थाये है जिनमे परिवर्तन की आवश्यकता है कुछ परम्पराये रूढ हो गयी है जिनको आज का जाग्रत समाज स्वीकार नही करता, जो परम्पराये उनकी प्रगति मे बाधा डालती है वह उन्हे उखाड फेकना चाहता है, वह इतना विद्रोह बन जाता है कि प्राचीन सब कुछ वह नष्ट कर नवीन की स्थापना करना चाहता है। कुछ प्रगतिवादी नवीनता के प्रति इतने आग्रही हो गये, कि प्राचीन कुछ भी उन्हे स्वीकार नही। परन्तु विवेकी वह है जो प्राचीन परम्परा को नष्ट कर उनमे जो प्रगति के तत्व है उन्हे ग्रहण करे। इसे लेनिन ने कहा था– 'जो सुन्दर है वह चाहे जितना पुरातन हो, हमे ग्रहण करना चाहिए और उससे भावी विकास मे सहायता लेनी चाहिए हमे नवीन के प्रति केवल इस लिये आत्मसमर्पण नही करना चाहिए कि वह नवीन है। कला के क्षेत्र मे यह वस्तुत पाखण्ड ही है।'[3]

मार्क्सवाद भी नवीन को स्वीकार करता है परन्तु प्राचीन सब व्यर्थ हो, और नवीन सर्व सार्थक हो, ऐसा नही है। प्राचीन इतिहास के पृष्ठो को खोलकर नवीन

---

1 नागार्जुन–अकाल और उसके बाद
2 श्याम विहारी शुक्ल 'तरल–मजदूर जगत्– पृ०–12
3 डा० कृष्ण लाल हस–प्रगतिवादी काव्य साहित्य से उद्धृत।

जन समाज को सम्मुख करना, एव उच्च उज्जवल आदर्शो की ओर प्रत्येक का ध्यान आकर्षित करना साहित्यिको का कार्य रहा है और उन्होने इस कार्य को अत्यधिक सफलता के साथ निभाया है।[1] शोषित युगो से अनाचार सहते चले आ रहा है। पुरानी रीतियो मे अब परिवर्तन चाहते है, वह अब शोषण सहन नही करना चाहते, वे अनीति को समाप्त करना चाहते है–

युगो से हम अनय का भार ढोते आ रहे है,
न बोली तू मगर हम रोज मिटते आ रहे है
पिलाने को कहा से रक्त लाये दानवो को?
नही क्या अस्तित्व है प्रतिशोधक का हम मानवो को?
जरा तूँ बोल तो, सारी धरा हम फूक देगे
कही कुछ पूछने बूढा विधाता आज आया,
कहेगे हॉ तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया।[2]

कवि मे सामाजिक विषमता के प्रति रोष है और वह हुकार उठा है, उसमे ईश्वर तक को चुनौती दे दी है– ईश्वर की बनायी यदि सृष्टि है तो वह अपने सृष्टि मे नवजात शिशुओ को दूध के वगैर मरते क्यो देखता है, जबकि वही पत्थर की मूर्तियो पर कई टन दूध ढलका दिया जाता है, प्रगतिवाद ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करता वह इन प्राचीन आस्थाओ मे परिवर्तन चाहता है।

क्राति का धर्म होता है शोषित जनता को जगाना और अन्याय का प्रतिकार करना, मानवता के लिये बलिदान होना ही क्रान्ति का सदेश है। समाज–सुधार का आधार समाज सुधारवाद या अनुकम्पावाद नही है वरन् सगठन के बल पर समाजसत्ता बदलकर बहुजन उन्मुख करना है।[3]

जब सामाजिक विषमताये अपनी चरमसीमा पर पहुच जाती है तो क्राति की

---

1 साप्ताहिक हिन्दुस्तान–13 अगस्त–1961– स्वाधीन भारत मे साहित्यकार का दायित्व–पृ०5
2 दिनकर–हुँकार–पृ०–24
3 समाज और साहित्य–लेखक–अचल–साहित्य और क्राति की परम्परा–पृ०–113

आवश्यकता होती है। बहुत दिन बीत गये बच्चो को दूध के लिये तरसते हुए, अब नही देखा जाता, मनुष्य का हृदय चिक्कार उठता है। वह हुकार कर उठता है और अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपना हिस्सा मागता है। वह जाग्रत हो उठा है, वह अपने अधिकार समझ चुका है। वह अपने अधिकार के लिये सगठित होकर क्राति के लिए तैयार हो कर पूँजीपति वर्ग के ललकारता है–

दूध–दूध फिर सदा कब्र की, आज दूध लाना ही होगा,
जहाँ दूध के घडे मिले, उस मजिल तक जाना ही होगा।
हटो ब्योम के मेघ, पथ से स्वर्ग लूटने हम आते है,
दूध–दूध ओ वत्स तुम्हारा, दूध खोजने हम जाते है[1]

धर्म तथा ईश्वर का विरोध : धर्म का अर्थ धारण करने योग्य होता है, अर्थात जो सामाजिक व्यवस्था को धारण करे वह धर्म है, या जो समाज द्वारा धारण योग्य है वह धर्म है, परन्तु सामन्ती व पूँजीवादी व्यवस्था मे गरीबो को चूसने का यह एक पम्प बन गया, जहा सामन्तवाद ने सामाजिकता के नाम पर गरीबो को चूसा वही पूँजीवाद ने नीयतिवाद के नाम पर एक चित्र प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत 'गोदान' से–होरी की मनसा मोटा–मोटा खा कर किसान के रूप मे मरने की थी, परन्तु जब वह मजदूर बन कर भूखा प्यासा 'पताने' (गन्ने के टुकडे) बनाता हुआ मरा तो वह अपने पीछे कुछ नही छोड पाया–न तो वह किसान रह पाया न ही उसका वह झूठा मरजाद, परन्तु धर्म के ठेकेदारो ने व्यवस्था दी इसका गोदान–तथा अन्तेष्टि क्रिया आवश्यक है। इस करूण कथा की त्रासदी व्यग बन कर पाठक के ह्दय मे सामाजिक व्यवस्था तथा धर्म मे परिवर्तन की आवश्यकता के लिये कराह उठी ।

प्रगतिवाद धार्मिक ग्रन्थो का विरोधी न होकर, उस धर्म तथा रूढि का विरोधी है, जिसमे समाज की गति अवरूद्ध होती है।

---

1 दिनकर–हुकार–पृ०–23

प्रगतिवादी कवि ने जहा भी धर्म का विरोध किया है उसने धर्मशास्त्र के स्थान पर उस रूढियो को ही अपने प्रहारो का लक्ष्य बनाया है जो उसकी दृष्टि मे समाज की उन्नति मे वाधक है, नगर एव ग्राम्य सभी इन रूढियो से बधे है, जिनके प्रति आक्रोश, उपहास, अवहेलना, विरक्ति, सभी कुछ प्रगतिवादी काव्य मे द्रष्टव्य है।[1]

भारत धर्म प्रधान देश है, यहा पर विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तिया विद्यमान है, इन्ही का गलत फायदा उठा कर उच्च वर्ग द्वारा भोले–भाले गरीब को लूटा जाता है, इसके कई रूप हो सकते है। इसीलिये धनिक श्रेणी धर्मगत सस्कारो को पोसती रहती है ताकि धर्म के नाम पर वह अपना शोषण अनन्तकाल तक जारी रख सके। परन्तु इस प्रकार के धनिको के प्रति एक रोष निकला है इस काल मे–

छूरी बगल मे मुह मे राम,
भोले भाले मरे तमाम।
ठगो निकालो अपना काम,
मूँडो बन जाओ हज्जाम।
डालो दाना डालो–दाम,
रघुपति राघव राजा राम।
हिन्दू और अहले इस्लाम,
बनो महन्त लगे न छदाम।
घर बन जाय पॉचवा धाम,
ध्वनि से गुँजे नगर तमाम
रघुपति राघव राजा राम।[2]

धर्म के इस ढकोसले, पाखण्ड से दूर प्रगतिवादी कवि स्वय को भौतिकवादी व बुद्धिवादी घोषित करता है और शोषण अनाचार के इस अचूक अस्त्र का पूर्णत बहिस्कार करता है। "मै बुद्धिवादी हूँ, मेरा देवता है ज्ञान, और इस देवता के अलावा मुझे किसी देवता पर विश्वास नही । बुद्धिवादी होने के कारण मुझे धर्म पर

---

1 नया हिन्दी काव्य – डा० शिवकुमार मिश्र पृ० 181

2 सनेही अभिनन्दन ग्रन्थ–डा० शिव कुमार मिश्र का लेख–प्रगति के अग्रदूत–पृ० 249

विश्वास नही है न ही उपासना पर, मै समझता हूँ कि मनुष्य केवल बुद्धि द्वारा पूर्णता प्राप्त करेगा।"[1]

बौद्धिकता का नारा तो बाद मे आया, इससे पहले तो धर्म को ज्ञान की वस्तु नही, अन्धविश्वास की वस्तु बना दिया गया। धर्म मनुष्य के स्वस्थ्य विकास का नही भय का साधन बना लिया गया। समाज मे धर्म का पालन पहले पहल श्रद्धा के स्थान पर अनिष्ट के भय के कारण प्रारम्भ हुआ। धर्म की स्थिति ठीक इस प्रकार थी जैसे–शिशु को भयभीत करने के लिए उसे हौवा आया, हौवा आया, जैसे आश्चर्यजनक जन्तु की ओर सकेत कर उसे भयक्रात करते है, उसी प्रकार शोषक वर्ग भी अपने स्वार्थ साधन के लिये धर्म एव ईश्वर नामक अज्ञात वस्तु की कल्पना कर उसे सजीवता देने का प्रयास करता है।[2]

हमारे भारतीय समाज मे एक विश्वास यह भी है कि व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के कर्मो को भोगने के लिये जन्म लेता है, इस प्रकार जो गरीब है वह अपने पूर्व जन्म के कारण है, और जो अमीर है वह पूर्व जन्म मे अच्छा कर्म किया है, पुनर्जन्मवाद गरीब को कठिन मेहनत से उपजी पीडा को सहने मे आत्मपल प्रदान करने के साथ–साथ उसे समाज के प्रति विद्रोह न करने की ओर ले जाता है। रवीन्द्रनाथ जी अपनी पुस्तक प्रगतिशील आलोचना मे इसे यूँ स्पष्ट करते है–एक ओर दु ख, शोक, पीडा के कारणो को पूर्वजन्म के कर्मो का फल बता कर शोषण का विरोध करने से रोक दिया जाता है और दूसरी ओर पौरूष के रूप मे उसे यह शिक्षा दी जाती है कि भक्ति को अपने सपूर्ण सामर्थ्य के साथ शास्त्र निर्देशित कर्मो का पालन करना चाहिए। अर्थात शोषण की प्रक्रिया मे अपना योगदान देना ही शोषितो का कर्तव्य है।[3]

इस प्रकार हम देख सकते है कि धर्म शोषक वर्ग का वह अस्त्र है, जिसके

---

1 हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी चेतना से उद्धृत–जनेश्वर वर्मा

2 प्रगतिशील आलोचना–रविन्द्रनाथ–पृ० 229

3 वही।

बल पर ही पूँजीपति युग–युग से दलितो व पीडितो का शोषण करता आया है।

पूँजीपति वर्ग के प्रति आक्रोश समाज मे जब एक व्यवस्था का अन्त होता है तो उसी मे से दूसरी व्यवस्था जन्म लेती है, इस प्रकार सामन्ती व्यवस्था के पतनोपरान्त पूँजीवादी व्यवस्था ने जन्म लिया, इसने समाज मे दो वर्ग कर दिया, बहुसख्यक वर्ग, 'मजदूर' तथा अल्पसख्याक वर्ग, 'मील मालिक'। सामाजिक प्रतिद्वन्द्विता ने पूँजी का एकत्रीकरण कर दिया, जिससे मजदूर वर्ग मे क्रमश बेकारी की समस्या बढती गयी, पूँजीवाद ने स्वतन्त्रता, समानता, मानवता का जो नारा पहले बुलद किया था, उसे फ्रान्स की क्रान्ति के पश्चात वापस ले लिया गया, और सामन्तवाद से समझौता कर लिया गया। शिवदान सिह चौहान के अनुसार–पूँजीपति वर्ग ने इस प्रतिक्रियावादी विकास का कविता पर यह प्रभाव पडा कि उसके स्वतन्त्र जीवन के क्रम छिन्न–भिन्न हो गये और वह रोमास के व्यक्तिगत ससार मे आने को सीमित कर सामाजिक वस्तुस्थिति के साथ समझौता करने लगी, और विक्टोरिया काल मे पूँजीवाद के ह्रास युग के शुरू होने के साथ–साथ पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के परिणामस्वरूप जब कविता बाजार की प्रतियोगिता की वस्तु बन गयी और उपेक्षित कवि समाज की कार्यशीलता से पीछे हट कर अपनी व्यक्तिगत दुनिया मे आश्रय लेने को बाध्य हो गया तो उसके पास सिवाय इसके कोई कार्य न रह गया कि वह अपने एकान्तिक जीवन मे बैठ कर कविता के भेष–भूषा सवारने और उसकी टेकनिक परिमार्जित करता व पूर्ण बनाता जाय।[1]

मनुष्य के मनुष्य न समझने से उसे पशु कोटि तक गिरा देने से जो अव्यवस्था पैदा होती है, वह जीवन के सौन्दर्य का हनन कर देती है। सौन्दर्य व कला, आलस्य व विलास के पर्याय नही, वरन् जीवन के अन्तरतम सबन्धो से पैदा हुई योजना के लिये व्यवहृत शब्द है। इसे अन्यथा स्थिति मे तो केवल अस्तित्व रहेगा

---

1 प्रगतिवाद – शिवदान सिह चौहान–कविता की आधुनिक व्याख्या शीर्षक निबन्ध--पृ० 85-86

जीवन नही। एक वर्ग को इतना आराम मिले कि वह आलसी बन जाय, दूसरे वर्ग को इतना काम करना पडे कि वह परिश्रम से टूट जाय, यह कहा का न्याय है? प्रगतिवाद सच्चा सस्कारी प्रजा जीवन चाहता है—ससार को एक नये सौन्दर्य विधान के अनुसार बनाने की कल्पना करता है।[1] पूँजीवादी उद्योगो के विकास ने जिसका 'अर्थ उत्पादन' के साधनो पर एक छोटे से साहसी वर्ग का नियत्रण पाया जाना है। विश्व के सम्मुख श्रमिको एव प्रबन्धको के बीच सघर्ष की विशाल समस्या उपस्थित कर दी है।

राष्ट्र समुन्नत बन न सकेगा,
न्यायहीन सर्जन से केवल।
उत्पादन के साथ योजना,
वितरण—क्षमता पर भी दे बल।[2]

पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति तत्कालीन सभी कवियो ने लेखनी चलायी है। कवि का मन पूँजीवादी व्यवस्था से खिन्न है, वह समझता है कि इसमे न्याय नही है—और वह जनता से इस बन्धन को काट देने का सदेश देता हुआ कहता है—

अब तक जो होता आया है,
उसमे जन सम्मान नही है।
उसमे मानव को मानव के,
सुख—दुख का कुछ ध्यान नही है।
उससे व्यक्तिवाद पनपा है,
उससे पूँजीवाद हुआ है।
इन्हे नष्ट कर शोषित मानव,
शाप काट दो जन जीवन का।[3]

आर्थिक विषमता · पूँजीवाद ने आर्थिक विषमता को जन्म दिया, जिसमे पूजीपति

---

1 आर०के० मुखर्जी—इण्डियन वर्किंग क्लास—पृ० 372 श्रम समस्याये एव सामाजिक सुधार से उद्घृत पृ० 163

2 जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द—भक्ति के स्वर—योजना शिल्प से द्वितीय सस्करण—पृ० 98

3 त्रिलोचन शास्त्री—धरती—प्रथम सस्करण—पृ० 4

क्रमश सम्पूर्ण सम्पत्ति पर अधिकार करता चला गया, जबकि मजदूर–किसान क्रमश श्रम बेच–बेच कर जीवन को खीचता रहा इसी कारण समाज मे आर्थिक विषमता का जन्म हुआ।

पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन व वितरण के साधनो पर पूँजीपति वर्ग का अधिपत्य होता है, वह मजदूर के श्रम की कम कीमत देकर मजदूर की श्रम शक्ति को पूँजी के रूप मे इकट्ठा करता जाता है, और अपने वितरण प्रणाली से कुलीन वर्ग को जन्म देता है, ये सभी गरीब वर्ग का शोषण करते है, क्योकि गरीब सख्या मे अधिक होता है, और उत्पादन सम्पूर्ण जनसख्या के लिये होता है, इस प्रकार वस्तुओ के मूल्य का निर्धारण ये पूँजीपति वर्ग करते है, जिससे गरीब जनता पर दोहरी मार पडती है, एक ओर वह अपनी उपज का मूल्य कम करता है वही आवश्यक सामग्री यथा कपडा, नमक अन्य आवश्यक सामग्री को महगे दामो मे खरीदता है अत वह सबसे अधिक श्रम करके भी कगाल बना रहता है।

मनुष्य की कगाली उसकी क्रयशक्ति घटा देती है, अत अभावग्रस्तता के कारण अशिक्षा का जन्म होता है, अशिक्षा–जनसख्या वृद्धि, सामाजिक पिछडेपन, भावात्मक शून्यता को जन्म देती है। ये सारी बुराईयॉ मनुष्य मे हीन भावना को जन्म देती है, किन्तु मनुष्य के अन्दर पनपी इस हीन भावना को कैसे दूर किया जाय? अर्थ पर सबका समान अधिकार कब होगा? समाज का प्रत्येक व्यक्ति सुखमय जीवन कब व्यतीत कर पायेगा? ? मानव हृदय से यह हीन भावना तब तक नही दूर होगी जब तक वर्तमान समाजिक वैषम्य और समाज के धन पर चुने हुए लोगो का अधिपत्य नष्ट नही होगा।

प्रगतिवाद और कथा साहित्य

उपन्यास प्राय प्रगतिवादी दर्शन का प्रतिफलन कथा साहित्य मे भी देखा जा सकता है। सामाजिक यथार्थ के जिस आग्रह को लेकर उन्होने कविता के क्षेत्र मे कोरी कल्पना तथा वैयक्तिकता को नकारा था और उसके स्थान पर वास्तविकता, ईमानदारी एव तल स्पर्शी चित्रण की माग की थी। कथा साहित्य मे भी रोमाच, तिलिस्म तथा सस्ती और निरूद्देश्य प्रणय–भावुकता को छोडकर वस्तुगत यथार्थ को ही पूरी समग्रता से उभारने पर जोर दिया गया। इस क्षेत्र मे प्रेमचन्द सामाजिक समस्याओ, नारी पराधीनता, किसानो का शोषण, आदि समस्याओ को अपने उपन्यासो का केन्द्र बिन्दु बना कर रचना करने लगे। प्रेमचन्द ने व्यापक व गहरी मानवीय सवेदना की स्थिति को लेकर हिन्दी उपन्यासो के क्षेत्र मे एक नये युग का प्रवर्तन किया।

प्राय यह कहा जाता है कि सन् 1936 के पहले उपन्यास आदर्शवादी थे। फिर आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी हुये, और प्रेमचन्द की अन्तिम कुछ रचनाओ को यथार्थवाद की ओर अग्रसर माना जाता है।

परन्तु इस दौर मे आदर्श व यथार्थ की कसौटी का बडा ही कृत्रिम ढग से और सरलीकृत सूत्र की तरह इस्तेमाल किया गया है जो रचनाये इन कसौटियो पर कसी न जा सकी, उन्हे 'अश्लील', 'प्रकृतवादी', 'घासलेटी', आदि कह कर उनसे पल्ला झाड लिया गया। परिणाम स्वरूप प्रेम चन्द की तुलना मे प्रसाद को प्रकृतवादी और प्रेमचद–प्रसाद दोनो की तुलना मे 'उग्र' को अश्लील, विभत्स या नग्नतावादी मान लिया गया। परन्तु नये प्रतिमान 'उग्र' को दूसरे रूप मे देखते है, उसके उपन्यास – 'चन्द हसीनो के खुतूत' (1927) 'दिल्ली का दलाल' (1927) 'बुधवा की बेटी' (1928) 'शराबी' (1930) 'सरकार तुम्हारी आखो मे' (1936) आदि उपन्यासो मे कटु

यथार्थवादी शैली मे स्त्रियो के उत्पीडन का चित्रण किया गया है। प्राय उग्र के उपन्यासो मे दूराचारो एव धर्म की आड मे होने वाले पापो, अछूतोद्धार की समस्या, सामाजिक अध विश्वास एव रूढि, वेश्यालयो, मदिरालयो आदि का चित्रण किया गया है। अत 'उग्र' के उपन्यासो मे 'कसक व गुदगुदी' के स्थान पर दुराचार के प्राकृतिक पहलू को सामने ला कर उनके सामाजिक पहलुओ पर प्रकाश डालना है।

प्रेमचद ने 'प्रेमाश्रम' के सामत विरोधी कथा ससार को 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' मे उस धरातल पर पहुचा दिया, जिसे राजनीतिक शब्दावली मे कृषि क्राति का धरातल कहा जा सकता है। यहा प्रेमचद की चिता का विषय यह है कि राजनीतिक आजादी ही पर्याप्त नही है, असली सवाल यह है कि समाज के उत्पीडक वर्ग द्वारा बनाई गई व्यवस्था का खात्मा होता है या नही, जमीदारी प्रथा, रियासती व्यवस्था, महाजनी सभ्यता, पूँजीवाद, औपनिवेशिक नौकरशाही, नैतिक नियम, जीवन मूल्य, आदि समाप्त करने पर ही– होरी, गोबर, सिलिया, धनिया, झुनिया को सच्ची मानवीय गरिमा उपलब्ध करने वाली जनवादी स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है। स्वाधीनता और सामाजिक क्राति को समन्वित करने वाली इस व्यापक समाजवादी यथार्थ दृष्टि को मानवीय सबधो के स्तर पर कलात्मक रूप से अकित करने के कारण ही प्रेमचद महान उपन्यासकार है।

जहा प्रेमचद ने नारी पराधीनता के प्रश्न को उठाया है वही यशपाल ने मजदूरो के सगठित आन्दोलन, और स्त्री स्वाधीनता के विषय को 'दादा कामरेड' (1941) मे उठाया। मजदूर आन्दोलन के केन्द्र मे मध्यवर्ग के क्रातिकारी हरीश को रखा और स्त्री स्वाधीनता के प्रश्न को उच्च मध्यम वर्ग मे जन्मी क्रातिकारिणी 'शैला' के इर्द–गिर्द केन्द्रित किया। स्पष्ट है कि जेनेन्द्र की 'सुनीता' को यशपाल ढग से 'शैला' के रूप मे एक भिन्न सदर्भ दे कर चित्रित करते है। जहा तक मजदूर वर्ग के सगठित सघर्ष के यथार्थ चित्रण का प्रश्न है यशपाल ने प्रेमचन्द कालीन यथार्थवादी

परम्परा मे एक नयी थीम जोडी है। यशपाल की सीमा यह है कि उनके उपन्यासो मे हडताली मजदूरो के सघर्ष मे अर्थवाद ही प्रमुख है। मालिक से मजदूर की लडाई केवल आर्थिक दशा मे सुधार के लिये है, राजसत्ता उलटने, उसे चकनाचूर करने और नयी जनवादी राजसत्ता बनाकर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना करने का प्रश्न विल्कुल छोड दिया गया है। लेखक पर मध्यवर्गीय सुधारवादी मनोभावना हावी है, और अपनी उस खोल से वह बाहर नही आ पाता। जबकि गोर्की की 'मॉ' मे पावेल मजदूर वर्ग का है, पर यशपाल के हरीश, खन्ना, भूषण आदि पात्र मध्यवर्ग से आते है यही वजह है जिससे 'यशपाल श्रमिक जीवन को बाहर से देख रहे है' जबकि गोर्की उसका अन्तरग दर्शन करते है।

समसामयिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य, मजदूर आन्दोलन, मध्यवर्ग के कम्प्युनिष्ट पात्रा आदि की थीम से अलग 'दिव्या' (1945) बौद्ध कालीन भारत वर्ष की पृष्ठभूमि मे नारी पराधीनता के वास्तविक प्रश्नो को समेटने वाली महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है। इस उपन्यास मे मारीश चारवाक और दिव्या के द्वारा यशपाल ने अपने भौतिक वादी दर्शन तथा स्त्राी पराधीनता के वास्तविक प्रश्नो को अत्यत कलात्मक ढग से प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन गणराज्यो मे अभिजातीय वर्ग सस्कारो के अत सघर्ष से ले कर, ब्राह्मणो एव बौद्धो के सघर्ष तक की राजनीतिक एव सास्कृतिक पृष्ठभूमि का भी बडा ही यथार्थ चित्राण है। डा० राम विलास शर्मा ने कहा है कि 'यशपाल का सबसे प्रभावशाली उपन्यास दिव्या है, कारण कि यहा राजनीति की स्लिब खडखडाती नही है।'[1] 'दिव्या' के सन्दर्भ मे डा० त्रिभुवन सिह का कथन है कि 'यशपाल हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार है जिन्होने प्राचीन बुद्धयुगीन मानवजीवन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है।'

---

1 प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें– पृ०–117

यद्यपि 'दिव्या की घटनाये व पात्रा अवश्य कल्पित है, परन्तु तत्कालीन युग अपने समूचे परिवेश मे यथार्थ ने प्रति उस इमानदारी को लेकर उभरा है जो उस युग की सपूर्ण समाजव्यवस्था पर एक कठोर प्रश्न चिन्ह लगाती है। मिट्‌टी के मोल विकती, एक के बाद दूसरे हाथो मे जाती निराश्रित नारी की करूणा उपन्यास की केन्द्रीय सवेदना–भूमि का निर्माण करती है। बौद्ध धर्म जिसने तथागत के रूप मे आम्रपाली को शरण दे कर तत्कालीन समाज व्यवस्था पर चोट करते हुए जन सामान्य मे एक नयी चेतना फूॅकी थी, बदली हुई परिस्थितियो के सदर्भ मे किस प्रकार उस विकृत समाज व्यवस्था के अनुशासन मे बध गया था, इसका उदाहरण उस समय प्राप्त होता है जब अभिजात कुल की धर्म समाज, न्याय की नजरो मे गिरी उसी की एक कन्या (दिव्या) सब ओर से निराश होकर, दासता के कठोर अभिशापो से ग्रस्त अपने दुधमॅुहे अवैध शिशु को लिये इसी के द्वार पर याचना करती है

'विशाल द्वार के पटो मे एक छिद्र खुला। छिद्र से एक तरूण भिुक्ष ने निद्रालसित प्रश्नात्मक दृष्टि से दारा (दिव्या) की ओर देखा। दारा अकुला उठी–भन्ते शरण चाहती है।

X X X

भिक्षु तरूण ने प्रश्न किया–

क्या तुम्हारे चेरी–धर्म ग्रहण करने मे तुम्हारे पति की अनुमति है? नही देव! पति नही है।

तो क्या तुम्हारे पिता की अनुमति तुम्हारे चेरि–धर्म ग्रहण करने मे है? नही देव! पिता भी नही है। यदि पति और पिता नही है तो क्या तुम्हारे पुत्रा की अनुमति तुम्हारे चेरि–धर्म ग्रहण करने मे है?

देव ! दासी पुत्र अनुमति देने योग्य नही है? यदि दासी हो तो क्या तुम्हारे मालिक की अनुमति चेरि–धर्म ग्रहण करने मे हैं ?

X X X

धर्म के अनुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति के बिना सघ, स्त्री को शरण नही दे सकता। परन्तु देव ! भगवान तथागत ने वेश्या आम्रपाली को भी सघ मे शरण दी थी।

वेश्या स्वतत्र नारी है देवी !

(दिव्या)

तत्कालीन समाज व्यवस्था मे नारी की अपनी असहाय स्थिति का इससे अधिक मार्मिक विवरण और क्या हो सकता है? इस समाज व्यवस्था के ही एक अग धर्म के उपर इससे बडी टिप्पणी और क्या हो सकती है।

उपेन्द्रनाथ अश्क की स्थिति यशपाल से भिन्न है। वे महध्यवर्ग का कथानक उठाते है, मध्यवर्ग के चरित्रमात्र नही। सन् 1936 से 1951 के मध्य अश्क ने दो उपन्यास लिखे– 'सितारो का खेल' (1937) और 'गिरती दीवारे' (1947)।

'सितारो का खेल' उनका प्रारम्भिक बचकाना प्रयास है। पर 'गिरती दीवारे को हिन्दी उपन्यास समीक्षको ने महत्वपूर्ण माना है। लक्ष्मीनारायण लाल ने इसे थार्थवादी परम्परा का उपन्यास माना है और रामदरश मिश्र का कहना है कि 'यद्यपि यह विराट् फलक पर स्थिति है किन्तु कथा विन्यास की दृष्टि से बहुत उपरी है।'[1]

प्राय 'गिरती दीवारे' को ले कर आलोचको मे इतना भारी मतभेद है कि सामान्य पाठक सही नतीजे पर नही पहुॅचा पाता। जिस कसौटी पर रामदरश मिश्र इसे ' कथा विन्यास' की दृष्टि से ढीला–ढाला कहते है, सशलिष्ट सामाजिक सम्बन्धो की अन्त यात्रा मे इस कृति के चितेरे को असमर्थ समझते है– इसी कसौटी पर भारत भूषण अग्रवाल भी इसे कसते है और एक दम विपरीत नतीजे पर पहुॅचते है।

---

1 हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा , प्रथम सकरण राजकमल प्रकाशन दिल्ली ' पृ० १३५

डा० राम विलास शर्मा—'गिरती दीवारें के नायक की परिकल्पना के मूल में हरिप्रसन्न और शेखर की परम्परा देखते हैं। उनका आरोप हे कि कुछ कलाकारों के लिये मध्यवर्ग की जिंदगी के चित्रण का मतलब होता है, सेक्स सम्बन्धी, विकारों का चित्रण। इसके सिवा इन्हें आज के समाज की चक्की में उनका जीवन पिसता हुआ नही दिखाई देता, कहीं वे उस चक्की के पाटों के खिलाफ कसमसाते नजर नहीं आते। कुछ कलाकार मध्यवर्ग का बहाना करके उसी सुनीता वादी परम्परा का अनुसरण करते हैं।[1] डा० राम विलास शर्मा ऐसी रचना को प्रगतिशील नहीं मानते और इसके लिए छिछले सेक्स चित्रण के अनेक उदाहरण 'गिरती दीवारे' से उद्धृत करते हैं। उनका निष्कर्ष है कि 'शेखर चेतनवाद को प्रगतिशील 'ठहराना' और प्रगतिशीलता की शद्ध कलावादी परिभाषायें देना एक प्रतिगामी साहित्यिक दृष्टिकोण है।[2]

प्रायः 'गिरती दीवारे के छिछले काम वर्णन पर प्रगतिवादी समीक्षकों ने ऐतराज किया है। इस प्रकार अश्क के यथार्थवादी चित्रण को समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, परन्तु उनके उपन्यासों में समाज के उत्पीड़क वर्ग और वर्ग समाज की अनेक रूढ़ियों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण मिलता है। अतः अश्यक के यथार्थवाद को 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के दायरे में रखना गलत नहीं है। अश्क ने स्वयं भी यह कहा है कि 'वे अपने यथार्थवाद को आलोचनात्मक यथार्थवाद' मानते हैं। तथा 'समाज के यथार्थ' को उनके उभरे पन के साथ व्यक्त करते हुए व्यंग, विद्रूप, हास्य आदि के माध्यम से आलोचना करते हैं इस प्रकार से यदि प्रगतिशील यथार्थ का अर्थ समाज वादी यथार्थ है तो अश्क निश्चित रूप से प्रगतिशील नहीं हैं। परन्तु यदि प्रगतिशील यथार्थ के अन्तर्गत अलोचनात्मक यथार्थवाद' का भी समावेश है तो कुछ एक दोषों के बावजूद अश्क प्रेम—चन्द्रकालीन यथार्थवादी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। प्रगतिशील आन्दोलन के दौरान मध्यवर्ग के

---

[1] प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें – पृ० 224

[2] प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें – पृ० 224-29

सपूर्ण परिवेश और मध्यवर्गीय सामाजिक सबन्धो के माध्यम से वर्ग विभाजित समाज पर यथार्थ दृष्टि डालने के अनेक औपन्यासिक प्रयत्न हुए। नौजवानो के कालेज तथा विश्वविद्यालय जीवन पर भगवती चरण वर्मा ने 'तीन वर्ष' नामक उपन्यास मे रमेश के चरित्र के माध्यम से विचार किया। पर रागेयराघव ने 'घरौदे' (1941) नामक उपन्यास मे भवगती के जीवन चरित्र का विविधरूपी अकन करते हुए वर्ग द्वन्द को भी सामने रखा। इस उपन्यास मे प्रोफेसर मिश्रा के भ्रष्ट एव विकृत चरित्र के माध्यम से समाज के ऊँचे तबके के लपट तत्वो की पोल खोली गयी है।

यह उपन्यास रागेय जी का प्रथम प्रयास होने के कारण सराहनीय है। लेखक ने 'कर्मभूमि' और 'तितली' की यथार्थवादी परम्परा मे किसान जमीदार सघर्ष को उठाने का प्रयत्न किया है। यह दूसरी बात है कि कृषि क्राति की कथाभूमि प्रासगिक ही बनी रह जाती है। इसे अधिकारिक कथा भूमि के रूप मे 'विषाद मठ' (1946) नामक उपन्यास उठाता है।

अत रागेय राघव ने जनवादी कृषि क्राति को बगाल के अकाल से जोडकर प्रस्तुत करने मे प्रेमचन्द्र की यथार्थवादी परम्परा का ही विकास किया है।

रागेय की सन् 1951 तक प्रकाशित कृतियो मे 'विषाद मठ' और 'मूर्दो का टीला' का साहित्य के इतिहास मे अन्यतम स्थान है।

'मूर्दों का टीला' (1946) ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है। इसमे मोहनजोदडो की लुप्त भारतीय सभ्यता का आख्यान उपन्यस्त करने का प्रयास है। इसमे मोहनजोदडो के दासो के 'आदिम समाज के सस्कार परिलक्षित होते है। कही भी लेखक ने सप्रयास आधुनिक जीवन की समस्याओ को आरोपित करने का कौशल नही दिखाया।

प्रगतिशील आन्दोलन के दौरान अमृतलाल नागर ने 'नवाबी मसनद' सेठ बॉकेमल' और 'महाकाल' नामक तीन उपन्यास लिखे। इस उपन्यासो मे नवाब साहब'

और उनके मुसाहिबो के रेखाचित्र लखनऊ की नवाबी सभ्यता क पतनशील सामन्ती वातावरण के खाके उपस्थित किये गये है। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के प्रारम्भिक दौरे मे प्रभाकर माचवे ने 'परन्तु' (1940) नामक उपन्यास के द्वारा, व्यापक सामाजिक और यथार्थवादिता का परिचय दिया था। 'परन्तु' सामन्ती–पुजीवादी समाज के आतरिक गतिरोध और मुनष्य द्वारा मनुष्य के उत्पीडन के कारण उत्पन्न निरतर ह्रास की समस्या का यथार्थ चित्र है। रूपवन्ध की दृष्टि से 'परन्तु' लघु उपन्यास है और इसमे चेतना धारा वाली पाश्चात् प्रणाली का सफल निर्वाह है। परन्तु कृतिकार ने वर्ग समाज की सामती–पूजीवादी नैतिकता और उसके आर्थिक आधार के बीच क्रिया–प्रतिक्रिया पर सहज मानवतावादी यथार्थवादी दृष्टि डाली है।

इसी दौरान अचल ने चार उपन्यास लिखे– 1 चढती धूप (1945), 2 नयी इमारत' (1946), 3 उल्का (1947), और 4 मरूप्रदीप (1951), इन चारो उपन्यासो मे अनेक पात्र ऐसे है जो साम्यवाद मे अपनी आस्था प्रकट करते है वे मजदूर आन्दोलन मे हिस्सा लेते है देश की जनवादी स्वाधीनता के लिये सघर्ष करते है और अपनी विचारधारा तथा कार्यविधि से अपनी प्रेमिकाओ को अभिभूत कर उन्हे भी कम्युनिश्ट या समाजसेवी बनाने मे सफल हो जाते है।

ऐतिहासिक उपन्यास तथा ऐतिहासिक रोमास के माध्यम से इस परम्परा को आगे बढाने मे प्रगतिशील लेखको के योगदान का सही मूल्याकन करने के लिए सबसे पहले राहुल साकृत्यायन के उपन्यासो का विवेचन अनिवार्य हो। राहुल जी ने दर्जनो उपन्यास लिखे है। उनमे से कुछ इस प्रकार है 'सोने की ढाल' (1937), 'विस्मृत के गर्भ मे' (1937), 'जादूका मुल्क' (1938), 'जीने के लिये' (1940), 'सिह सेनापति' (1942), 'किन्नरो का देश' (1948), 'मधुर स्वप्न' (1950), आदि। इनमे प्रारम्भिक तीनो उपन्यास विदेशी लेखको के उपन्यासो के भावानुवाद है। इन तीनो के पात्रो उपन्यास विदेशी लेखको के उपन्यासो के भावानुवाद है। इन तीनो के पात्रो के नामो का भी

भारतीय करण कर लिया गया है। मौलिक रचनाओ मे वृन्दावन लाल वर्मा और राहुल सास्कृत्यायन के कथान सघटन मे एक अन्तर है। वह यह है–

राहुल जी वृन्दालाल वर्मा की तरह इतिहास के प्रमुख व्यक्तियो को अपने उपन्यासो का पात्र नही बनाते, बल्कि उनका उद्देश्य विभिन्न प्राचीन सास्कृतिक और सामाजिक युगो मे मनुष्य के विकास की कहानी को चित्रित करना होता है। इसके लिये वे ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक युगो के विशिष्ट समाजो और उनके निर्माण मे भाग लेने वाली विशिष्ट और साधारण जनो का कल्पना जन्यचित्र प्रस्तुत करते है।[1] 'जिनके लिए' उपन्यास मे राहुल ने कृषि क्रान्ति की समस्या उठाई है। यद्यपि इन उपन्यासो मे क्रातिकारी राजनीतिक विचारधारा से भरे सवादो की भरमार के कारण उपन्यास के कलात्मक गठन को आघात पहुँचता है। पर यह कृति प्रेमचन्द्र के उस यथार्थवाद की परम्परा मे है जो कृषि जीवी जन समूह की जीवत वास्तविकता के ग्रहण पर बल देता रहा है सिह सेनापति' मे ऐसे अनेक स्थल है, जहा शिवदान सिह चौहान के आरोप प्रमाणित हो जाते है। 'देव कन्याये मडल बाधकर मुझे बीच मे लिये नाच रही थी। बीच–बीच मे मै थम कर विश्राम लेता तो मधुक्षीर मिश्रित सोम का चषक ले देवागनाये आदर पूर्वक मुझे पिलाने के लिये तैयार रहती।[2] कमिनियो और देवागनाओ की स्वच्छदता दिखलाते हुए राहुल जी ने लिखा–' वहा प्रत्येक देवी उन्युक्त देवी है, वह किसी की भार्या नही वह पद्य सर मे विहरने वाली भ्रमरी है, और चाहे जिस की पद्यम कोष मे रात को बन्द होने के लिए स्वतत्र है।[3]

इस प्रकार के नारी चित्रण के आधार पर शिवदान सिह चौहान ने जो निष्कर्ष निकाले है, उन निष्कर्षो से बहुत भिन्न डा० रामविलास शर्मा के निष्कर्ष नही है। डा० शर्मा इसे 'स्वच्द गिलास मे स्वच्छ पानी' वाली यौन नैतिकता कहते है। राहुल जी पर

---

[1] हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' पृ०–169-70–प्रगतिवाद और समनान्तरण साहित्य से उदधृत– पृ०–163

[2] सिह सेनापति– किताब महल, इलाहाबाद– 1957- पृ० 68

[3] सिह सेनापति– किताब महल, इलाहाबाद– 1957- पृ० 69

व्यग करते हुए एक स्थान पर उद्घाटित करते है–'राहुल जी अपनी नायिकाओ की नश्ल का बडा ख्याल रखते है। उनके नेत्र नीले तथा केश पीले होने चाहिए।'[1] राहुल साकृत्यायन ने इतिहास की अलग–अलग मजिलो के अलग–अलग स्त्री पुरूष सम्बन्धी नही दिखाये बल्कि स्वच्छद यौन सबन्ध का एक स्थिर रूप हर काल पर फिट कर दिया। इस तरह के दृष्टिकोण के कारण ही वे गतिशील सामाजिक सबन्धो की यथार्थ झाकिया प्रस्तुत करने मे असमर्थ रहे। परन्तु राहुल के उपन्यासो का यह बहुत गौण पहलू है। उनका उद्देश्य सभ्यता की एक विशेष अवस्था का सामुहिक स्वरूप उपस्थिति करना रहा है।

प्रगतिशील आन्दोलन के सामने एतिहासिक रोमास और ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र मे वृदालालवर्मा की सबृद्ध यथार्थवादी कला को समाजवादी दिशा मे उन्मुख करने का प्रश्न था। 'झासी की रानी' 'कचनार', 'मृगनयनी' टूटे काटे' आदि मे साम्राज्यवाद, सामती रूढिवाद, और अन्याय का विरोध करने वाली यथार्थ दृष्टि है। रामविलास शर्मा ने प्रगतिशील लेखको से कहा कि "ऐतिहासिक उपन्यासो मे हमे वह परम्परा अपनानी चाहिए, न कि मुखर अश्व जैसे कुचो वाली नायिकाओ और चाहे जिस पद्मकोष मे बन्द हो जाने वाली भ्रमरियो की परम्परा।[2]

निराला के उपन्यास 'कुल्लीभाट' (1939), चमेली' (1939) 'विल्लेसुर बकरिहा' (1941) 'चोटी की पकड' (1946) 'काले कारनामे' (1946), न तो रूमानी कल्पना चित्र है न वैसी नायिकाये, न उपन्यास के प्रचलित ढाचे का रूपबध। इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है कि 'अप्सरा', 'अलका', निरूपमा' के शहर इन उपन्यासो मे फिर लौटते नही। 'कुल्ली भाट' से ले कर काले कारनामे' तक सभी उपन्यासो की

---

1 प्रगतिशील साहित्य की समस्याये– पृ० 126

2 प्रगतिशील साहित्य की समस्याये – पृ० 127

कथाभूमि 'बैसवाडे का गाव' है। इन सभी उपन्यासो मे निराला की यथार्थवादी कला पूर्ण प्रौढता पर पहुँची हुई दिखाई देती है।

'कर्मभूमि' 'गोदान' 'ककाल' 'तितली' की परम्परा मे हिन्दी उपन्यास के यथार्थवादी रूझान का जो सुत्र यशपाल के यहा मजदूर आन्दोलन के केन्द्र मे बैठे मध्य वर्गीय कम्युनिस्टो से जुड न पाने के कारण छिन्न सा हो रहा था, वह वृदालाल वर्मा, निराला, नागार्जुन, रगेय राघव, अमृतलाल–नागर आदि के उपन्यासो मे दृढता पूर्वक गुफित हो जाता है।

'कुल्ली भाट' मे कथा अचल निराला की ससुराल डालमऊ है। अछूत समस्या, अछूतो की बीच शिक्षा का प्रचार का काम, कुल्ली का जीवन चरित्र, हिन्दू मुस्लिम विवाह के बहाने सप्रदायिक एकता, विवाह की सस्था की पैसाचिक धार्मिक रूढि, परिवार का विघटन और बगाल मे हिन्दी सीखने का कार्य, व्याह और गौने की रीति–रिवाज–इस तरह अनेक सामाजिक पहलुओ को लेकर यह उपन्यास चलता है। आराम से कुडलिनी शक्ति जगाकर ब्रह्मदर्शन करने वालो पर व्यग, स्वय के छायावादी मोह पर आत्म विद्रूप, सामाजिक क्षेत्र मे कुल्ली का सघर्ष, परिवार विनाश का भयावह आत्मदाह–यह सब कही सहज–सरल रेखाकन की शैली ग्रहण करता है, कही सस्मरण, कही आत्मचरित, पर लघु उपन्यास का सर्वथा नया ढाचा प्रारम्भ से अन्त तक बराबर रहता है। जिस तरह 'कुकुरमुत्ता नामक कविता की विधा के सभी रूपो को परे ढकेलकर नयी काव्यविधा मढी गई प्रतीत होती है इसी तरह उपन्यास मे 'कुल्ली भाट'।

'कुल्ली भाट' का निर्माण कर निराला ने हिन्दी की औपन्यायिक चरित्र सृष्टि की समस्त परम्पराबद्ध मान्यताओ पर कुठाराघात किया 'कुल्ली भाट' को हम हिन्दी का पहली 'पिकरेस्क' उपन्यास कह सकते है।

'विल्लेसुर बकरिहा' की भूमिका मे स्वय निराला ने इसे प्रगतिशील साहित्य का नमूना कहा है। विल्लेसुर बकरिहा बकरी पालता है अत उपहास मे दिया गया उपनाम भी उसके साथ जुड जाता है। विल्लेसुर की कहानी प्रारम्भ से अन्त तक लोक कथा की रौ मे चलती है। ब्राह्मण समाज की रूढि और सडाध पर तीखा व्यग करने के उद्देश्य से लेखक ने बिल्लेसुर का चरित्र गढा है।

यह आकस्मिक घटना नही थी कि मिथला जो किसान आन्दोलन का गढ था मे स्वत ही किसान आन्दोलन उठ ख्डा हुआ, बल्कि इसके मूल मे सहजानन्द सरस्ती एव राम वृक्ष बेनीपुरी का क्रमश सामाजिक व साहित्यिक जागरण का प्रभाव अवश्य था। वेनीपुरी जी के दो उपन्यासो 'पतितो के देश मे' (1930) और 'कैदी की पत्नी' (1941) प्रेमचन्दोत्तर युग की प्रगतिशील यथार्थवादी परम्परा की अटूट कडिया है।

पहले उपन्यास मे मनोहर और पिअरिया की प्रेम कथा अधिकारिक कथानक का रूप लेती है। इसकी मूल अन्तर्वस्तु सामन्त विरोधी व रूढि विरोधी है। दूसरे उपन्यास मे दुलारी और उसके ऐसे पति की कहानी है जो राष्ट्रीय स्वतत्रता सग्राम का योद्धा है। पत्नी गाव मे है और पति जेल मे। मझोले किसान परिवार के स्वातन्त्रय समर के इस योद्धा का घर भूकम्प मे ध्वस्त हो जाता है, और पत्नी विपन्नवस्था मे तडपती रहती है।

मिथिला के दरभगा जिले की आचलिकता और ब्राह्मण समाज मे विधवा स्त्री की समाजिक समस्या के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से नागार्जुन का उपन्यास–'रतिनाथ की चाची' (1949) हिन्दी की प्रगतिशील यथार्थवादी परम्परा की वह कडी है जो प्रेमचन्द्र और निराला की यथार्थवादी कला को आगे बढाती है। इस उपन्यास को लेकर समीक्षको के बीच बडा गहरा मतभेद भी है। त्रिभुवन सिह के मतानुसार 'रतिनाथ की चाची' मे नागार्जुन ने अप्राकृतिक व्यभिचार के चित्रण से उत्श्रृखलता का

परिचय दिया है[1] परन्तु कुछ विद्वान इस मान्यता का खडन करते हुए कहते है कि यौन विकृति से निस्तार पाते हुए जिन कृतियो मे नारी का अपेक्षाकृत यथार्थ चित्रण हुआ है, उनमे 'रतिनाथ की चाची' सफल प्रयत्न माना जा सकता है।

इस प्रकार प्रगतिशील कथा साहित्य के उपर्युक्त इतिवृत्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द्र, प्रसाद, निराला, वृदालालवर्मा, और 'उग्र' की विविधता पूर्ण यथार्थवादी प्रवृत्तियो का एकोन्मुख विकास यद्यपि न तो सभव था और न हुआ। हम बुन्देलखण्ड, अवध, मिथिला आदि जनपदो के किसान जीवन का बडा ही आत्मीयतापूर्ण चित्रण इस काल मे होता रहा। दूसरी ओर मध्यवर्ग के स्त्री पुरूष सम्बन्ध की सामाजिक समस्या पर अनेक युवा कथाकारो ने अपने–अपने ढग से उपन्यास लिखे। सर्वहारावर्ग की क्रातिकारी चेतना का इस काल के उपन्यास साहित्य पर तिर्यक प्रभाव ही दिखाई देता है। चूँकि सर्वहारा वर्ग के जन आन्दोलनो के केन्द्र मे अक्सर मध्यवर्ग के सुशिक्षित कम्युनिष्ट कार्यकर्ता दखे गये है, जिनके अपने कुठित सस्कारो की सीमाये है।

यह कहना प्रासगिक होगा कि प्रगतिशील आन्दोलन ने सामाजिक से परिपुष्ट यथार्थवादी औपन्यासिक कला की नीव अवश्य रखी, जिसका विकास यशपाल के 'झूठा सच' (1961) अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' (1956) नागार्जुन के 'बलचनमा' (1952) फागीश्वर नाथ रेणु के 'मैला आचल' (1954) प्रताप नारायण श्रीवास्त के 'बेकसी का मजार' (1956) उपेन्द्र नाथ अश्क के 'गर्मराख' (1952) अमृत राय के 'बीज' (1953) भैरव प्रसाद गुप्त के 'गगा मैया (1955) 'सत्ती मैया का चौरा' (1956) रागेय राघव के 'कब तक पुकारू' (1958) आदि उपन्यासो मे दिखाई पडता है। सन् 60 के लगभग के उपन्यासो मे साश्लिष्ट यथार्थवाद की विवृत्ति मिलती है,

1 हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद–पृ० 422

कुल मिलाकर ये उपन्यास प्रगतिशील विचारधारा को पूर्ण रूप से परिभाषित व व्याख्यायित करते है।

आगे के उपन्यासो मे आधुनिकता, औद्योगिकरण, महानगरी सभ्यता, बदले हुए मानसिक परिवेश और भ्रष्ट व्यवस्था के कारण व्यक्ति यात्रिक, अजनबी, मिसफिट, अकेला एव विद्रोही हो गया है। इसका दर्शन प्राय साठ के बाद के सभी साहित्यिक विधाओ मे देखा जा सकता है। इस दशक के उपन्यासो को प्राय बोध सुकरता के कारण तीन भागो मे बाटा जा सकता है।

1 यौन भावनाओ मे पनाह खोजने वाले उपन्यास।

2 दी हुई मानवीय स्थितियो मे मिसफिट व्यक्तियो को चित्रित करने वाले उपन्यास।

3 व्यवस्था की घुटन को अपनी नियति मानने वाले या उसके विरूद्ध युद्ध करने वाले उपन्यास।

प्रथम श्रेणी के उपन्यासो मे प्राय मोहन राकेश के 'अधेरे बद कमरे' 'न आने वाला कल' और 'अन्तराल', निर्मल वर्मा का '' 'वो दिन', महेन्द्र भल्ला का ' एक पति के नोट्स', राज कमल चौधरी के 'मछली मरी हुई' और 'शहर था शहर नही था', श्रीकान्त वर्मा का ''दूसरी बार'' ममता कालिया का 'बेघर', गिरिराज किशोर का 'यात्राये' कृष्णा सोबती का 'सरजमुखी अधेरे के' आदि उपन्यास आते है।

दूसरी श्रेणी के उपन्यासो मे उषा प्रियमबदा का 'रूकेगी नही राधिका' और मनु भण्डारी का' आप का बटी' की गणना की जाती है। राधिका दो सस्कृतियो के पाट मे पीसकर आनिर्णय और अकेलेपन को झेलती है। यह न विदेशी सस्कृति मे फीट हो पाती ही न देशी सस्कृति मे।

'आप का बटी' मे बटी मॉ–बाप दोनो से कटकर मिसफिट हो जाता है। इन दोनो उपन्यासो की भावभूमि इनकी जिन्दगियो को प्रमाणित करती है।

तीसरे श्रेणी के उपन्यासो मे नरेश मेहता का ''यह पथ–बधु था', गोविन्द मिश्र का ' वह अपना चेहरा' बदउज्जमा का 'एक चूहे की मौत' काशी नाथ सिह का ''अपना मोर्चा', नरेन्द्र कोहली का 'आश्रितो का विद्रोह', आदि इसी श्रेणी मे आते है।

इस प्रकार प्रगतिशीलता की जो धारा स्वतन्त्रोत्तर काल के बाद चली उसमे सतत् परिवर्तन, निज की खोज, स्वतन्त्रता की तलाश, घुटन आदि का जो चित्र उभर कर सामने आया, उसकी दिशा व दशा का आकलन आगे के समय मे किया जा सकेगा, हम बस इतना ही कह सकते है कि समय के साथ हमारी आवश्यकताये, हमारी रूचि, विचारधारा आदि मे परिवर्तन के साथ ही साहित्य के प्रतिमानो मे भी परिवर्तन होता है जिसे हम कथा साहित्य मे आसानी से खोज सकते है।

कहानी प्राय भारतीय साहित्य मे प्रगतिवाद के आगमन के साथ ही प्रेमचन्द जी आदर्श और सुधार का रास्ता छोडकर यथार्थ और सामाजिक क्राति के रास्ते की ओर बढ रहे थे। परन्तु उस समय के अन्य कहानीकारो पर से आदर्श का रग अभी भी नही उतरा था। प्रेमचन्द्र का उद्देश्य 'यथार्थ सत्य का शोध करना और उसका कलात्मक ऑकलन करना' था। इस लिये उनके साहित्य मे एक सुव्यवस्थित क्रम का विकास, सृजन के स्तर पर सतत् जागरूकता और विचारो के स्तर पर निरतर द्वन्द्वात्मक तरीका देखने को मिलता है। डा० शिवदान सिह का यह सोचना सही है कि 'जहा प्रेमचन्द अपनी सतत् जागरूकता के कारण अपनी प्रतिभा और कला का परिष्करण करते चलते है वही गुलेरी, कौशिक सुदर्शन, प्रारम्भिक समाज सुधार की सीढी लॉघ कर उपर न चढ सके।[1] प्रेमचन्द की यह जागरूकता ही उनकी रचना मे नयापन जोडती चलती है। अपने समकालीन काहनीकारो से प्रेमचन्द्र इसी मूलतत्व के

1 हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष–राजकमल प्रकाशन दिल्ली द्विवतीय स० 1961 पृ० स०– 183

कारण अलग खडे दिखाई देते है और इसी लिए प्रेमचन्द की अनेक कहानियॉ आलोचनात्मक यथार्थवाद से आगे समाजवादी यथार्थवाद की ओर बढती हुई दिखाई पडती है।

सन् 1930 के वाद प्रेमचन्द ने सामती–महाजनी उत्पीडन, कृषिक्राति और जनवादी स्वराज्य के लिए छटपटाने और लडते हुए हिन्दुस्तान और मनुष्य की मानवता के निरतर खोते जाने की मूल मे स्थित क्रूर व्यवस्था का सत्य उधाडकर रखने का प्रयत्न किया। इस यथार्थवादी दौर मे लिखी गयी प्रेमचन्द की कहानियो मे सुधार, आस्तिकता, अधविश्वास आदि कही दिखाई नही पडते। 'कफन' 'काश्मीरी सेब' आदि ऐसी रचनाये है, जिनमे कठोर यथार्थवाद का रग गहराता चला गया है। प्रगतिशील आन्दोलन के प्रारम्भ होने से पहले ही प्रेमचन्द की रचनात्मकता–घटनाचक्र के नर्तन' से आदर्श और यथार्थ का कृतिम सह सबन्ध स्थापित करने वाली दृष्टि का परित्याग कर 'कठोर यथार्थवाद' की ओर गुड गयी।

चालीस के दशक की हिन्दी कहानियो मे यथार्थवाद का नया युग आरम्भ हुआ और इस युग के उन्नायको मे प्रेमचन्द के बाद उग्र और निराला का स्थायी महत्व है, इनका एक कारण यह है कि उग्र और निराला प्रगतिशील आन्दोलन के दौरान अपनी यथार्थवादी कला की अनुपम कृतियो से हिन्दी कहानी को सवृद्ध करते रहे। उग्र की यथार्थवादी कहानी कला का विकास 'करूण कहानी' (1926) से प्रारम्भ हो कर 'चादनी' (1939) तक मे स्पष्ट है।

'शतरज के खिलाडी' शीर्षक प्रेमचन्द लिखित कहानी की जमीन पर उग्र की व्यग कहानी 'मुगलो ने सल्तनत बढश दी' अपने तीखे यथार्थबोध और रचनाकौशल की दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'नयी कहानी' के आन्दोलन के दौरान अनेक समीक्षको और कथाकारो ने इस कहानी की जीवतता और उद्घाटन क्षमता का हवाला दिया है। उग्र की रचनात्मक प्रतिभा समाज के अन्तर्विरोधो की जैसी तीखी पहचान करती है

वैसी तीखी पहचान उस समय के बहुतक्रम कहानीकार कलात्मक स्तर पर व्यक्त कर पाते है। उग्र की रचनात्मक प्रतिभा इसी अन्तर्विरोध को अत्यन्त उग्रता के साथ पकडती है फैतासी (प्रतीक) और व्यग दोनो को कहानीपन के स्तर पर निभाते हुए उग्र ने 'गगा गगदत्त और गागी' शीर्षक अविश्मरणीय कहानी लिखी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल फतासी व्यवस्था की दृष्टि से उग्र की कहानी 'भुनगा' को महत्वपूर्ण माना है।

वेचनशर्मा उग्र की कहानिया केवल व्यग की ही दृष्टि से नही अपितु प्रेमचन्द के समानान्तर यथार्थवादी कला के नये दिगतो को उद्भासित करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उग्र का विद्रोह राजनीतिक–सामाजिक विचारो, रूढिया और खोखली परम्पराओ के विरूद्ध था। अपनी सउद्देश्यता के कारण उन्होने हिन्दी के सभी पाठको को अपनी गिरफ्त मे लेकर उन दिनो खूब झकझोरा। 'सनकी अमीर' 'जल्लाद' 'सुधारक', आदि कहानिया अपनी प्रगतिशील दृष्टि के कारण हिन्दी की अविस्मरणी' रचनाये है। डा० शिवदानसिह चौहान ने उग्र को पढकर ठीक ही 'फील्डिग' को याद किया है और कहा है–'पूजीवादी–सामती समाज के विरूद्ध जितना गहरा आक्रोश और घृणा आप के मन मे है, आप की कहानियो मे वह उतनी ही आवेगमयी, ओजपूर्ण शैली और कलात्मक चरित्र चित्रण मे व्यक्त हुई है।'[1]

इसी दौरान सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला कहानी के क्षेत्र मे अपने अनुभव युक्त यथार्थवादी रूझानो की ऐसी पूजी लेकर अवतरित हुये, जिसके मूल मे अद्वैत वेदान्त की व्यापक मानवीय करूणा और समाज के अस्वस्थ्य उपादानो के प्रति गहरी घृणा छुपी हुई थी। यथार्थवादी कहानीकार की हैसियत से निराला का उल्लेख कम ही कहानी समीक्षको ने किया है, सन 1930 के वाद लिखित निराला की यथार्थपरक कथाकृतियो मे 'देवी' और 'चतुरी–चमार' का अन्यतम महत्व है। निराला की इन कहानियो का ऐतिहासिक महत्व है 'देवी' और 'चतुरी चमार' मे कथा रचना की

[1] हिन्दी साहित्य मे अस्सी वर्ष–पृ०–186

यथार्थवादी धारा पूरी शक्ति से प्रवाहित है। इसका कारण अवध मे किसान आन्दोलन की प्रगति, उससे निराला का गहरा सपर्क है। इन कहानियो की खास विशेषता यह है कि निराला कहानी के पुराने सॉचे को तोडकर रेखाचित्र और सस्मरण के बीच कहानीपन के द्वारा सह सम्बन्ध स्थापित करते है। बची–बची मे रिपोर्ताज की विधा भी अपना रग दिखा जाती है इस प्रकार व्यग रचना की दृष्टि से निराला की काहनी गजानन शास्त्रिणी' अद्वितीय रचना है।

प्रेमचन्द, निराला, उग्र, वियोगी हरि आदि की रचनाये देश की जमीन से उपजे यथार्थवोध की परम्परा का द्वोतन करती है पर 'अगारे' की कहानियॉ मार्क्स और फ्रायड के यूरोपीय प्रभावो को वौधिक स्तर पर स्वीकार कर चली है। इस तरह 'अगारे' के प्रकाशन से एक भिन्न ढग के यथार्थवाद का आरमभ होता है। जिसमे दलितो व पीडितो के प्रति बौधिक सहानुभूति है, सामाजिक रूढियो और प्रतिक्रियावाद पर चोट की गयी है तथा परम्पराभजन का विद्रोही स्तर है। 'अगारे' सग्रह मे सज्जाद जहीर, अहमद अली, रशीद जहॉ और महमूद जफर की कहानियॉ थी। अपने सपूर्ण अतीत के प्रति अस्वीकार का भाव तथा उत्पीडित जनगण के प्रति केवल कोरी भाउकता के बावजूद 'अगारे' सग्रह साहित्यिक विद्रोह और कटु यथार्थवाद का पर्याय बन गया था।

सन् 1930 के यथार्थ वादी दौर मे प्रेमचन्द्र, निराला, उग्र, बेनीपुरी जो मार्ग अपना रहे थे उनसे हट कर एक नया रास्ता 'अगारे' द्वारा प्रस्तुत किया गया। हिन्दी कहानी मे उस प्रवृत्ति के प्रवर्तक जैनेन्द्र थे। हिन्दी कहानी मे प्रगतिशील आन्दोलन को प्रतिष्ठित करने का प्रयास यद्यपि 1936 के बाद हुआ, परन्तु इससे पहले समाजवादी यथार्थ दृष्टि का परिचय देने वाली राहुल साकृत्याथन की कहानियो का एक सग्रह 'सतमी के बच्चे' (1935) नाम से प्रकाशित हो चुका था। 1935 के बाद प्रगतिशील कहानीकारो का एक पूरा समुदाय उभरने लगा, जिसमे राहुल साकृत्यायन,

के अतिरिक्त, यशपाल, अमृतराय, रागेय–राघव, भीष्म साहनी अमृत लाल नागर, उपेन्द्र नाथ अश्क, भैरव प्रसाद गुप्त आदि के नाम प्रमुख है इस कहानीकारो के रचनात्मक योगदान को सक्षेप मे प्रस्तुत किया जा रहा है–

राहुल साकृत्यायन : प्रथम कहानी सग्रह 'सतमी के बच्चे' मे दस कहानिया सग्रहित है, जो ग्रामीण परिवेश का परिचय कराती है। कला की दृष्टि से ये कहानियॉ कमजोर व शिथिल हो सकती है, परन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से साहित्य की अग्रगति की सूचना देती है। इन कहानियो के प्राय सभी पात्र सामाजिक आर्थिक ढॉचे से पीडित है, और शोषण की व्यवस्था की ओर बरबस ध्यान खीच लेते है, आर्थिक मजबूरियो से विवश उत्पीडित जन समूह के प्रतीक चरित्रो को केन्द्र मे रखकर उनकी दुरवस्था का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण ही कहानियो की मूल सवेदना है।

राहुल जी के दूसरे कहानी सग्रह 'बोल्गा से गगा' (1942) के कथा चरित्रो के माध्यम से एतिहासिक भौतिकवाद का निरूपण भारतीय सास्कृतिक सदर्भो के साथ लपेटकर प्रस्तुत किया गया है। 'निशा' कहानी मे कबीला युग, 'दिव्या मे परिवार की उत्पत्ति,' अमृतत्व' मे प्राचीन भारतीय गणतन्त्र और 'रेखा भगत' मे सामती समाज के स्वरूप का उद्घाटन है। कृषि क्रातिकी कथाभूमि पर रचित 'रेखा भगत' कहानी मे रेखा भगत 1800ई० का पात्र है, कार्नवालिस के समय जमीदारी प्रथा का आरम्भ प्राय दिखाया गया है। जमीदारी प्रथा के प्रति असतोष, तथा औपनिवेसिक शासन से उपजी विभिषिका व अकाल से यदि कोई किसान डाकू वन जा रहा है तो इसमे आश्चर्य नही। उपर लिखित दोनो कहानी सग्रहो के आधार पर डा० प्रभाकर मिश्र का यह कथानक सत्य है कि –राहुल जी की कहानियो मे कथा की अपेक्षा वातावरण तत्व की प्रधानता है। 'वोल्गा से गगा' की कहानिया वातावरण चित्रण के उद्देश्य से लिखी गयी प्रतीत होती है। परन्तु यदि पात्रो के वर्ग चरित्र पर ध्यान दे तो ज्ञात होता है कि राहुल जी ने एक ओर जहा उत्पीडित जनगण के प्रतिनिधि चरित्रो मे सतमी, जीता,

पुजारी, राम गोपाल, सुमेर, रेखा भगत आदि को लिया है वहॉ जगलाल पाण्डेय जैसे धनी जमीदार के शोषण उत्पीडक स्वरूप को भी उभाडकर सामने लाया गया है।

यशपाल एक ओर जहा यशपाल जी प्रगतिशल कहानीकारो मे अग्रणीय स्थान रखते है वही दूसरी ओर प्रगतिशील के समनान्तर हिन्दी कहानी मे व्यक्त 'मानसिक कुठा एव मनोविश्लेषणात्मक कहानीकारो मे भी उनको देखाा जा सकता है। अज्ञेय जी के शब्दो मे– 'यशपाल मुख्यतया समालोचना के कहानीकार है। उनकी कहानियो मे मनोविश्लेषण बहुत रहता है। साथ–साथ व्यक्ति को कर्म प्रेरणाओ का विवेचन वह बराबर एक पैने व्यग के साथ करते है। अनेक स्थलो पर स्त्री पुरूष सम्बन्धो का उनका वर्णन नग्न भी हो जाता है फिर भी उनका लगाव व्यक्ति के कर्मों के पीछे लक्षित होने वाली निर्वेयक्तिक सामाजिक शक्तियो से ही है।[1]

कहानी लेखन के क्षेत्र मे यशपाल जी का आगमन प्राय प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के साथ सन् 1938-39 मे प्रारम्भ हुआ। यद्यपि 1939 मे उन्होने 'मकील' (1934) नामक कहानी के प्रकाशन से युवा लेखको मे वे उल्लेखनीय बन गये थे। परन्तु अपने प्रथम कहानी सग्रह 'पिजरे की उडान' (1939) के प्रकाशन से ही वे प्रतिभाशाली यथार्थवादी कहानी लेखक के रूप मे उभर कर सामने आये। स्वतन्त्रोत्तर हिन्दी कहानियो से पहले यशपाल की यथार्थवादी सृजनात्मक प्रतिभा का विकास निम्नलिखित कहानी सग्रहो मे देखा जा सकता है। यथा पिजरे को उडान' (1939) 'वो दुनियॉ (1941), 'भष्मावृत्त चिनगारी' (1946), 'फूलो का कुर्ता' (1949), 'धर्म युद्ध' (1950), 'उत्तराधिकारी' (1951), इन सग्रहो मे यशपाल की 119 महानिया सकलित है। सामाजिक यथार्थ के अन्दर कुठित व्यक्तिवादी यौन पीडा का तस्कर आयात करने का आरोप अक्सर उन पर लगाया जाता है। उनके 'फूलो का कुर्ता' के प्रकाशन के बाद डा० राम विलास शर्मा ने लिखा– 'यशपाल के पात्र जन जीवन के प्रतिनिधि नही है।

1 आधुनिक हिन्दी साहित्य– 80-110

वे उन वर्ग के प्रतिनिधि है जिनके लिये सेक्स और आत्मपीडा की समस्याये समान है।[1] परन्तु गेर मार्क्सवादी समीक्षको की राय यह थी कि 'यशपाल मे –फ्रायड ओर मार्क्स मानो शाश्वत विरोधो का परित्याग कर साथ–साथ गलबाही दे कर घूम रह हो।' इन दोषारोपणो का उत्तर देते हुए यशपाल ने उत्तराधिकारी की भूमिका मे अपनी सफाई पेश करते हुए कहा कि वह यौन विकृति को आर्थिक कारणो के परिणाम के रूप मे चित्रित करते है। यह सत्य है कि यशपाल ने प्रेमचन्द की कृषिक्रातिपरक कथा भूमि से अलग हटकर विशेष यथार्थवादी दिशा मे ही प्रयाण किया, पर वर्ग समाज के वाह्य ढॉचे के विभिन्न अवयवो की जितनी तीखी आलोचना उन्होने की और वैवाहिक रूढियो तथा नारीपराधीनता की कथावस्तु पर नये प्रतिमानो के साथ जैसी कहानियॉ उन्होने लिखी, वैसी उनके समकालीन किसी कथाकार ने नही लिखी। करवा व्रत' कहानी इस प्रसग मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है, इसमे लेखक द्वारा दिया गया हल भी मौजूद है। प्रारम्भ मे लेखक विवाह रूढियो पर प्रहार करता है और अन्त मे विवाह का अपेक्षित रूप सामने लाता है। इस कहानी के माध्यम से लेखक दामपत्य सबन्ध के मूल मे स्त्री पुरूष समानता के स्तर पर मिलन को दृढता से स्थापित करता है। पत्नी पति के लिये निर्जीव वस्तु नही है और न ही दासी है, वह एक सचेत सहचरी है, एक जीवित मानवी। कन्हैया और लाजो के प्रेम पर आधारित नये दामपत्य को सुखद ढॉचे मे ढाला गया है।

नारी पराधीनता के यथार्थवादी पहलुओ पर यशपाल की कहानिया निश्चित रूप से प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन को बल पहुँचा रही थी। अत ऐसी स्थिति मे कुछ एक कहानियो के आधार पर यशपाल ने सम्पूर्ण कहानी साहित्य का यह मूल्याकन सही नही है कि वे सेक्स और आत्मपीडा के कहानीकार है।

---

[1] प्रगतिशील साहित्य की समस्याये–पृ०–119

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के दौरान कहानी के माध्यम स व्यग की विधा को क्लासिक ऊचाई तक पहुँचाने का श्रेय यशपाल को प्राप्त है। हिन्दी कहानी की विकास परम्परा मे व्यग और यथार्थ के कलात्मक सयोजन के कौशल की दृष्टि से यशपाल ने एक ओर जहा प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढाया, वही दूसरी ओर पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की परम्परा को भी सशोधित रूप से विकसित किया। 'निरस रसिक', 'होली नही खेलता' 'कर्मफल' 'शहशाह का न्याय' 'प्रतिष्ठत का बोझ' एव 'परदा' शीर्षक कहानियो मे यशपाल के व्यग का यथार्थवादी एव कलात्मक रूप परिमार्जित होकर सामने आया है। यशपाल मे कथानक विविधता उनकी यथार्थ दृष्टि का परिचय देती है। उनकी प्राय सभी कहानिया मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखी गयी है। दूसरे विश्व युद्ध के आसपास ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश भारत के सदर्भ मे उन्होने सामाजिक रीति–नीति और आडम्बरो पर प्रहार के दौरान 'मनु की लगाम', 'धर्म की रक्षा', 'प्रतिष्ठा का बोझ', और 'दूसरी नाक' शीर्षक कहानियो मे प्रतिपादित किया है।

अत उनके बारे मे यह कहा जाय कि समाज मे व्याप्त असगति ही उनकी कहानी का आधार बन जाती है, तो कोई अतियुक्ति नही होगी। यशपाल स्वय ही मानते हे कि उनके लिये विषय ही मुख्य है। पात्र तो उनके अनुरूप वे गढ लेते है। दो प्रकार के विचारो का द्वन्द्व, दो दृष्टिकोणो का सघर्ष रखने के क्रम मे यशपाल कथानक का तानाबाना फैलाते है और इतिहास की अग्रगामी शक्तियो के वाहक के रूप मे प्रगतिशील विचारो के प्रतिनिधि चरित्रो को पूरे तीखे पन के साथ उभार कर सामने लाते है।

अश्क : अश्क जी यद्यपि राजनीति एव दर्शन के क्षेत्र मे मार्क्सवाद के साथ नही थे फिर भी उनकी रचनाओ द्वारा प्रगतिशील आन्दोलन को बहुत बल मिला। अश्क एक प्रकार से आलोचनात्मक यथार्थवाद के कहानीकार है यही बात उनके उपन्यासो के

सन्दर्भ मे भी कही जा चुकी है। प्रगतिशील कहानी के समनान्तर जैनेन्द्र, अज्ञेय– इलाचन्द्र जोशी की जो व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणात्मक ग्रन्थि पर जोर देने वाली कहानी की धारा थी, अश्क उस धारा से अलग अपने समय के बदलते हुए यथार्थ के सग्राहक के रूप मे दिखाई देते है।

यद्यपि उन्होने सेक्स की कुठाओ को लेकर 'अकुर' 'उबाल', 'चट्टान' जैसी कहानिया लिखी पर उनका दृष्टिकोण समाज की असगति को कलात्मक रूप से उभारने तक ही सीमित था। सेक्स चित्रण मे रस लेने की उनकी प्रवृत्ति न्यून रही। अश्क ने कहानी लेखन मे कथा वस्तु का भरपूर वैविध्य द्रष्टव्य है। उन्होने सेक्स चित्रण की उपयुक्त कहानियो के अतिरिक्त प्रेम चद की परम्परा मे अपनी तरफ से नया जोडते हुए 'डाची', 'काकड़ा का तेली', और 'ज्ञानी' जैसी गाव की सच्ची तसवीर दिखाने वाली कहानिया भी लिखी।

अश्क जी के सन् 1951 तक निम्नलिखित कहानी सग्रह प्रकाशित हुए 'जुदाई की शाम' का गीत (1933) 'डाची' (1937) कोपले (1940) 'छोटे' 'काले साहव' दो धारा' तथा 'पजरा' आदि।

हिन्दी कहानी के क्षेत्र मे आने से पहले वे उर्दू कहानीकार के रूप मे 'नवरत्न' और 'औरत की फितरत' नामक दो सग्रहो के माध्यम से सामने आ चुके थे।

कुल मिलाकर यद्यपि वैचोरिक धरातल पर अश्य की कला मे वह परिपक्वता नही है जो प्रेमचन्द्र की परवर्ती कहानियो मे है या यशपाल मे है। परन्तु भावना व सवेदना की दृष्टि से अश्य मे समाज की विसगतियो की बडी गहरी पकड है। उनकी यथार्थवादी दृष्टि जान–अनजाने मे प्रगतिशील साहित्य को महत्वपूर्ण कलात्मक योगदान दे जाती है।

अमृतराय : 'जीवन के पहलू' कहानी सग्रह के 1937 मे प्रकाशन के साथ अमृतराय

का कहानी के क्षेत्र मे पदार्पण हुआ। इसके बाद सन् 1951 तक 'इतिहास'– 'कस्बे का एक दिन' 'लाल धरती' भोर से पहले' नामक उनके अनेक सग्रह प्रकाशित हुए। 'लाल धरती' कहानी सग्रह की भूमिका लिखते हुए कहानीकार के नाते अमृतराय के कृतित्व को परिभाषित करने के क्रम मे कृश्नचन्दर ने कहा था–

अमृतराय सहज कहानी लिखने के लिये, कहानी नही लिखते थे, बल्कि कहानी लिखते वक्त उनके सामने जिदगी के, समाज के और चरित्र एव वर्गो के मसले रहते थे उनसे उनकी टक्कर रहती थी और उस टक्कर से कुछ निष्कर्ष निकलता है, जिदगी व समाज के बारे मे उनका एक जीवन दर्शन है जिसे वह अपनी कहानियो मे लागू करते है।

यही कारण है कि अनेक प्रगतिविरोधी समीक्षको मे अमृतराय की कहानियो मे प्रचारात्मकता का आग्रह देखा है। 'लाल धरती' नामक सग्रह मे ऐसी कहानियॉ अधिक है। 'यूरोप की विजयी जनता के नाम' एटमी सुलतान टू मैन के नाम' कोरिया का नया भूगोल, तेलगाना के बीरो से' नयी दुनिया के मेमार', 'वक्से के एक शोर के नाम', बाल बच्चेदार कबूतर', अभीयोग', 'तिरगे कफन', गोड्से के नलाम खुला पत्र' आदि कहानिया प्रचार दृष्टि से बडी साफ और सच्ची वास्तविकताओ को सामने लाती है।

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के दौरान लिखित अमृत राय की कुल कहानियॉ चथार्थ चित्रण एव कलात्मकता दोनो ही दृष्टियो से हिन्दी कहानी साहितय मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उन कहानियो मे 'एक सावली लडकी', 'सत्यमेव जयते', 'शाम की थकान', 'इति जम्मू दीपे भारत खण्डे', 'एक कामयाबी की तस्वीर' 'इतिहास', 'तिरगे कफन', आदि उल्लेखनीय है। समाजवादी यथार्थवादी कावे हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण धारा के रूप मे प्रतिष्ठित करने के ख्याल से अमृतराय ने कुछ सफल और बहुख्यात कहानियॉ लिखि, उनमे 'हजार मन राख' और 'एक चिनगारी' 'गीली मिट्टी' तथा 'गुमनाम आदमी' के समीक्षको ने सार्थक माना है।

सामतवाद पूजीवाद साम्राज्यवाद, धार्मिक विद्वेष, जातिप्रथा, वैवाहिक रूढि, वर्ग समाज के भेदभाव आदि पर अमृतराय ने जुटीला व्यग किया है और इस प्रकार प्रेमचन्द की परम्परा मे प्रगतिशील यथार्थ का चित्रण करने मे अमृतराय का योगदान अविस्मरणीय है।

प्रगतिशील आन्दोलन की उस अवधि मे लिखित रचनाओ के सग्रहो मे कुछ तत्व ऐसे है जिसने प्रगतिशील विचारधारा को आगे बढाया, उन सग्रहो मे मुख्य है– 'आदमखोर' (चन्द्र किरन सौनरेक्सा), 'सफर', 'छाया मे', अधूरा, चित्र 'हिरन की ऑखे, बरगद की जडे (पहाडी) 'पहला पाठ' (भीष्म साहनी), 'मजिल', 'बिगडे हुए दिमाग (भौरव प्रसाद गुप्त), काठ का सपना (गजानन माधवयुक्ति बोध) प्लाट का मोर्चा (शमशेर बहादुर सिह), 'खोल खिलौने' (राजेन्द्र यादव), 'ककडी मीठी बाते (नरेन्द्र शर्मा) 'बसेरा' 'सघर्ष', 'गर्जन' तथा 'बुर्जियो के पीछे' (भगवत शरण उपाध्याय) 'रेखाचित्र', पुरानी स्मृतिया (प्रकाश चन्द्र गुप्त)।

प्राय 50 से 60 तक की कहानियो मे दो विरोधी स्वर सुने जा सकते है। 1 मूल्यवादी और विघटन मूल्यो के परिवेश मे चीख 2 त्रास या बदले हुए रिश्तो के स्वर।

छठे दशक तक प्रथम स्वर की ही प्रमुखता रहती है। जबकि दूसरा स्वर–कहानी के क्षेत्र मे नये बदलाव की सूचना देता है, जो प्राय सठोत्तर कहानी की विशेषता है। साठ के आसपास कुछ ऐसे कहानीकारो को प्रादुर्भाव हुआ जो नया बोध आधुनिकता बोध को लेकर कहानी के क्षेत्र मे प्रकट हुआ। इस दर्शक की कहानियो को लेकर बहसे व आन्दोलन भी कम नही हुआ।

सन् 1955 मे कहानी पत्रिका के पुन प्रकाशन ने इसे आगे बढाया। सन् 1955–56 मे नयी कविता के प्रचलन के साथ इसे 'नयी कहानी' नाम से प्रचलित

करने को ध्येय नामवर सिह को जाता है।

ग्रामाचल के कहानीकारो मे शिवप्रसाद सिह, मार्कण्डेय और फणीश्वर नाथ रेणु के नाम आते है। इनकी कहानियो मे ग्रामिक जीवन से जुडे तमाम विम्ब–प्रतीक यथा मिट्टी का सोधापन किसानो की जीवटता आदि प्राय जैनेन्द्र अज्ञेय–अश्क की परम्परागत कहानियो से भिन्न सदर्भ लिये हुऐ है।

मारकण्डेय की कहानियो–'गुलराबाबा' 'हसा जाई अकेला' मे अतीत के प्रति एक रोमैटिक दृष्टिकोण के साथ गाव के उभरे हुए वर्ग सघर्ष को कलात्मक ढग से चित्रित करने की कोशिश की गयी है। इनके कहानी सग्रहो मे– 'महुए का पेड' 'हसा जाई अकेला' 'भूदान' 'माही' आदि है।

जहा एक ओर पुराने मूल्यो के प्रति रोमानी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हो रही थी, वही दूसरी ओर एक ही काल मे युगीन सक्रमण और तनावो की स्थितियो की अनुभूति हो रही थी दबावो के फलस्वरूप तनाव, मूल्यो की तलाश की विविध सदर्भों की कहानियॉ लिखी गयी।

मोहन राकेश की कहानियो मे तानव स्पष्ट दिखाई देता है जबकि राजेन्द्र यादव की कहानियो मे वैयक्तिकता पर सामाजिकता हावी है। कमलेश्वर की कहानियो मे तनावो के बीच मूल्यान्वेषण करने की सजगता दृष्टिगत होती है। मोहन राकेश ने 'आद्रा' और कमलेश्वर ने 'देवा की मॉ' कहानी मे पुरानी पीढी के जीवट को लिया है और रोमानी आदर्शो को स्वीकार नही किया है।

मोहन राकेश की कहानी 'मलवे का मालिक' देश विभाजन से उपजी दो सप्रदायो मे घृणा, त्रस, डर, आदि मानसिक अवधारणाओ का समुचित विवेचन प्रस्तुत करती है।

कमलेश्वर की कहानियो मे युगीन सक्रमण का मूल्यान्वेषी स्वर मिलता है

इनकी कहानयो मे प्राय सघर्ष मे जिजीविषा और जिजीविषा मे जो सघर्ष है वह पूरी जिदगी के साथ लिपटा हुआ है। यही कारण है कि इनकी कहानी 'देवी मॉ मार्कण्डेय की 'माई' राकेश की 'आर्द्रा' अपने आप मे व्रितर सवेदना लेकर आती है।

प्राय कहानी लेखिकाओ मे मनु भडारी, कृष्णा सोवती उषा प्रियवदा का अपना ससार है, जो पुरूष ससार से कुछ हट कर देखने का प्रयत्न है। इनके कहानियो का विषय प्राय आधुनिक नारी की मन स्थिति, पारिवारिक जीवन मे पति–पत्नी सबध आदि के विवेचन तक सीमित है। उषा प्रियवदा के कहानियो मे विविधता और जीवन के अनेक आयाम दिखाई पडते है। जबकि मन्नू भडारी की कहानियॉ पुरूष मन की छानबीन करती है, पुरूष मन मे उठने वाली आशकाये, ईर्ष्याये आदि कीा चित्रण प्राप्त होता है

'यही सच है', 'तीसरा आदमी' इसी प्रकार की मनू की कहानियॉ है कृष्ण सोवती और कहानियॉ प्राय सेक्स जन्य भाउकता को उभार कर रह जाती है, इनकी कहानियो का सग्रह "मित्रो मरजानी' मे किया गया है।

निर्मल वर्मा की कहानियो मे कहानी परम्परा को तोडने का दुराग्रह है उनके समकालीन कहानीकारो मे प्राय चीख, क्षण, मूड, मिथ का विवेचन देखने को मिलता है लदन की एक रात और 'कुत्ते की मौत' नाम कहानियो मे उनकी चीख स्पष्ट सुनाई पडती है। इनमे जीवन के प्रति अनिश्चितता, घूटन, निरर्थकता, बेगानीपन आदि को उठा कर किन्ही स्वीकृति या प्रतिबद्धताओ की ओर सकेत किया गया है। निर्मल वर्मा की कहानियो को 'परिन्दे', 'पिछले गर्मियो मे 'बीच बहस मे' आदि मे सग्रहित किया गया है।

श्रीकान्त वर्मा की कहानियो को ट्यूमर। ब्रेनट्यूमन की कहानियॉ कहा जा सकता है यह ट्यूमन प्राय प्रेम के चारो ओर चक्कर काटता हुआ दिखाई पडता है।

इसमे व्यग्रता, वेचैनी, अनिश्चितता के तत्व पाये जाते है इसी परम्परा मे अन्य कहानीकार भी आते है जो मुख्यत ज्ञानरजन, दूधनाथ सिह, विजय मोहन सिह, गिरीराज किशोर, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, काशीनाथ सिह अशोक सकसरिया, अशोक अग्रवाल, जितेन्द्र भाटिया, नरेन्द्र कोहिली, सुदर्शन नारग आदि है। इस प्रकार पतिशीलता की जो परम्परा 1936 के बाद चली उनके प्रतिमानो मे क्रमश परिवर्तन होते गये, आज की कहानी का रूप यद्यपि पहले से बहुत बदल चुका है फिर भी विभिन्न सगोष्टियो सम्मेलनो के माध्यम से जो प्रगतिशीलता की चर्च हो रही है, वह यथार्थ को समझने तरासने एव नये मानदण्डो की स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर रही है।

*** *** ***

तृतीय–अध्याय

प्रगतिवाद और समाजशास्त्रीय आलोचना

प्रगतिवाद और समाजशास्त्रीय आलोचना

प्रस्तुत–शोध प्रबन्ध प्रगतिवादी आलोचना, तथा प्रगतिवादी आलोचको के साहित्य एव सामाजिक दर्शन का विश्लेषण तथा विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इसका विषय समाज शास्त्रीय है। इसका विवेचन करने से पूर्व आलोचना तथा समाजशास्त्र मे क्या सम्बन्ध है, पूर्णत स्पष्ट हो जाना आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना सिद्धान्त के समान ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्त भी अपेक्षाकृत नवीन अवधारणा है। पश्चिम मे एड्मन्ड विल्सन द्वारा डिकेन्स की प्रवृत्तियो पर प्रभाव डालने वाली सामाजिक बातो की खोज तथा किपलिग द्वारा मनोवैज्ञानिक विषयो के समाजशास्त्रीय कारणो की खोज इस आलोचना पद्धति के उदाहरण है।

समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति की निम्न विशेषताये है–

1 समाजशास्त्रीय आलोचना लेखक की रचनाओ के सामाजिक स्रोत तथा उन पर पडे सामाजिक तत्वो के प्रभावो की विवेचना करती है। उदाहरण स्वरूप समाजशास्त्रीय–आलोचक, उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे प्रचालित–कला कला के लिये सिद्धान्त की सामाजिक उत्पत्ति, का कारण समसामयिक समय मे औद्योगिक समाज के विकास से उत्पन्न कलाकार (साहित्यकार) के दु समजन को मानेगा।

2 समाजशास्त्रीय आलोचना–समाजशास्त्रीय मूल्यो और साहित्यिक मूल्यो को नितान्त समानान्तर नही मानती। उसकी दृष्टि मे एक रामाज तथा उसके साहित्य के मूल्य अनिवार्यत समान नही होते, यह अनिवार्य नही है कि अच्छी सामाजिक परिस्थितियॉ ही अच्छे साहित्य को। जन्म दे। और बुरी सामाजिक परिस्थितियॉ बुरे साहित्य को सामाजिक मूल्यो को यथावत् साहित्य मे स्थानान्तरित नही किया जा सकता इसके स्थान पर लेखक के दृष्टिकोण का

अध्ययन भी किया जाना चाहिए। समाजशास्त्रीय आलोचना सामाजिक मूल्य को तत्कालीन कृति पर आरोपित नही करती, वह तो केवल कृति को समझने के लिये उसके उद्भव की कारणभूत तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो का अध्ययन करती है।

3 वह साहित्यिक सौन्दर्य और श्रेष्ठता की कसौटियाँ स्वय साहित्य की प्रकृत से ही लेती है। इसकी दृष्टि मे कृति के मूल्याकन की कसौटी कृति के अनुरूप होनी चाहिए।

4 समाजशास्त्रीय आलोचना कृति के व्यापार और उसकी परम्परा पर प्रकाश डालती है। वह कृति के गुण–दोषो के कारणो की तथा उन गुण दोषो की प्रकृति का अध्ययन करती है, परन्तु साहित्यिक प्रतिमानो के आधार पर।

अपनी आलोचना प्रक्रिया मे समाजशास्त्रीय आलोचना कृति की सामाजिक पृष्ठिभूमि और उस पृष्ठिभूमि के उस कृति पर पडने वाले प्रभाव का विस्तार से अध्ययन करती है। हम्फ्री हाउस लिखित–'द डिकन्स वर्ल्ड' इस प्रकार की समाजशास्त्रीय आलोचना का अच्छा उदाहरण है। समाजशास्त्रीय आलोचना साहित्य के स्रोतो को बताने के अतिरिक्त साहित्य बोध की वृद्धि मे भी सहायता देती है। वह मार्क्सवादी आलोचना से इस अर्थ मे व्यापक कही जा सकती है कि वह अपेक्षाकृत अधिक सवेदनशील है क्योकि मार्क्सवादी आलोचनला राजनीतिक व आर्थिक निर्णयो को साहित्यिक क्षेत्र मे लागू कर देती है। वह मूल्याकन के एक साधन की अपेक्षा साहित्यिक कृतियो के सामाजिक उद्भव की उत्पत्ति मूलक व्याख्या के रूप मे ही साहित्यालोचन के अधिक उपयुक्त है।[1]

---

1 डेविड डाइशेष–क्रिटिसिज्म एण्ड सोशियोलोजी–क्रिटिकल एप्रोचेज टू लिटरेचर–पृ० 374 आधुनिक हिन्दी कवियो का सामाजिक दर्शन से उद्घृत।

समाजशास्त्रीय आलोचना का विकास : किसी देश जाति या युग की सभ्यता का विवेचन करते हुए उसके कलात्मक विकास के अध्ययन को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। कला को समाज द्वारा प्राप्त 'सास्कृतिक आदर्शो का साक्ष्य' कहा गया है। मानव शास्त्री आदि कालीन मनुष्य के सास्कृतिक स्थिति के वर्णन मे उनकी कला की मुख्य रूप से विवेचना करते है। जिसमे कला के विभिन्न रूप–कथा, कहानी, चित्र, सगीत, नृत्य, स्थापत्य, शिल्प आदि के विवेचन को मुख्य स्थान प्राप्त होता है। पुरातत्ववेत्ताओ ने प्राचीन सभ्यता के खण्डहरो मे तत् सम्बन्धी कला की खोज करने मे अथक परिश्रम किया। उन खोजो के माध्यम से अतीत का सफल चित्रण भी किया। इन विविध क्षेत्रो के विद्वानो द्वारा कला–विवेचन पर दिये गये ध्यान की अपक्षा समाजशास्त्री बहुत पीछे रह गये है। वस्तु स्थिति यह है कि समाज शास्त्रीय विवेचना के विकास के आरम्भिक युग मे टेन स्पेसर, ग्रोसे, गुयान, और बुट आदि पश्चात समाजशास्त्रीयो ने ललित कलाओ पर विचार करने मे उतना सकोच नही दिखाया, जितना आज के समाजशास्त्री दिखा रहे है। आज हमारा ज्ञान क्षेत्र इतना अधिक परिवर्तित हो चुका है और कई समाजशास्त्री विद्वानो ने अपनी क्षमता से इस क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनमे डा० राधा कमल मुखर्जी, बेलामी, डकन, राउसेक इत्यादि है।

साहित्य के विकास के साथ अठारहवी शताब्दी मे एक नया आन्दोलन तब आरम्भ हुआ, जब विज्ञान के व्यापक विकास के साथ बहुमूखी अनुसधान की प्रक्रिया आरम्भ हुई, और साहित्य की समाजशास्त्री आलोचना का विकास साहित्य मे होने वाले परिवर्तनो से आरम्भ हुआ।

वैज्ञानिक विकास के पहले, साहित्य आलोचना मे नैतिक व धार्मिक आदर्शो की प्रधानता थी, और उन्ही के आलोक मे साहित्य की रचना होती थी। इस आदर्शवादी दृष्टि के पश्चिम के अन्तिम दृष्टा गेल और फिक्टे माने जाते है। इन्होने साहित्य के

सौन्दर्य को आत्मतत्व से सम्बन्धित माना है। इनके अनुसार जीवन के उदात्त पक्षो का विवेचन करना साहित्य का धर्म है। परन्तु ऐतिहासिक विकास मे यह आदर्शवाद, जीवन निरपेक्ष तत्वो की मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ है। सामाजिक पर्यावरण प्रतिदिन वैज्ञानिक अविष्कारो और रूढियो, परम्पराओ अधविश्वासो आदि की निरर्थकता सिद्ध करने के कारण तेजी से बन्धनमुक्त हो गया था। राजनीतिक सामाजिक जीवन मे बदलाव के कारण नये प्रतिमानो की स्थापना हो रही थी। चारो ओर बन्धन से मुक्ति की प्रवृत्ति बदल रही थी और साहित्य मे स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति का विकास हो रहा था।

अठारहवी शताब्दी के अन्त मे रीति अथवा आदर्श के विरोध मे स्वच्छन्दताबाद (रोमैटिसिज्म) नामक साहित्य आन्दोलन इसी परिवर्तन का सूचक है। इस आन्दोलन ने एक और नया रूप धारण कर लिया–साहित्य को एक समाज विज्ञान के रूप मे देखने का प्रयास आरम्भ हुआ जिसके कारण साहित्य, धर्म, दर्शन आदि की विज्ञान सम्मत व्याख्या आरम्भ हो गयी, इस प्रकार नयी स्थापना, नये प्रतिमानो का जन्म हुआ। अठारहवी शताब्दी के मध्यभाग मे फ्रान्स मे बॅल्टेयर और जर्मनी मे स्टेन वर्ग, लेसिग, हर्डर आदि कई प्रमुख आलोचक इस नये आन्दोलन का साहित्य क्षेत्र मे नेतृत्व करते हुए दिखाइ पडे।

वॉल्टेयर ने साहित्य के समाजशास्त्री अध्ययन मे जातिगत विशेषताओ पर बल दिया, उसने लिखा "जिस जाति मे स्त्रियॉ पराधीन है और परदे के अन्दर रहती है उसके साहित्य से उस जाति का साहित्य भिन्न होगा जिसमे स्त्रियॉ स्वाधीन रहती है।"

मामान्टेल और शेनियर ने साहित्य को सामाजिक प्रक्रिया के रूप मे ऑकने का प्रयास किया है।

उन्नीसवी शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति से समाज मे होने वाले परिवर्तनो ने 18 वी शताब्दी के परिवर्तनो को कई कदम आगे बढा दिया। साहित्य पर विज्ञान का व्यापक प्रभाव पडा, विज्ञान की प्रकृति के अध्ययन की तटस्थता ओर साहित्यकार के सामाजिक अध्ययन और सप्रेषण की तटस्थता क्रमश निकट आने लगी। डार्विन ने अपने मानव विकास सम्बन्धी अनुसधानो द्वारा मनुष्य को पशु और बनस्पति जगत् की प्राणी सत्ता के समीप पहुँचा दिया था, जो आदर्शवादियो के लिए चुनौती साबित हुआ। वैज्ञानिक सत्य की स्वीकृति ने साहित्य–विचारको को एक नया मोड, एक नयी यथार्थवादी दृष्टि दी। इस वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि को अपनाने वाला लेखक सेट साइमन माना जाता है। एक तरह उद्योगो के विकास से पूँजी का विकास हो रहा था तो दूसरी ओर निर्धनता और बेकारी मे वृद्धि हो रही थी। समाज का एक बडा वर्ग साधन विहीन व बेकार हो गया था। सेट साइमन ने सर्व प्रथम साहित्यकारो और कलाकारो से यह अपेक्षा की कि वे एक ओर विज्ञान सम्मत सामाजिक और मानवीय यथार्थ का चित्रण करे, और दूसरी ओर मजदूरो व दुखी जनो के कष्टो के निवारण की भी आवाज बुलद करे।

अठारहवी शताब्दी मे साहित्य के समाजशास्त्री अध्यय के दृष्टिकोण मे व्यापक अन्तर आ गया, क्योकि उस समय समाजशास्त्र का आधुनिक रूप मे विकास अभी नही हुआ था। वस्तुत समाजशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन तो फ्रान्सीसी विचारक ऑगस्ट कोम्ट द्वारा तब आरम्भ हुआ जब नवीन विचार स्थापना के साथ सर्व प्रथम सन् 1938 मे उसने सोसियोलाजी की व्युत्पत्ति की। कोम्ट ने ही सर्वप्रथम सामाजिक घटनाओ के अध्ययन के लिये एक पृथक ज्ञान की आवश्यकता अनुभव की। उसने अपने शास्त्र का नाम पहले 'समाजिक भौतिक शास्त्र' रखा जो बाद मे 'समाजशास्त्र' हो गया। इस प्रकार समाजशास्त्र मे सत्य और क्रिया के योग से एक गतिशील दर्शन का जन्म हुआ, जिसमे वैज्ञानिकता के साथ–साथ सामाजिक जीवन के नैतिक पक्षो

पर भी ध्यान दिया गया था। साहित्य को भी एक सामाजिक घटना के रूप मे स्वीकृति इसी समय मिली। इसी समय साहित्य के वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन को मान्यता मिली। इस नयी व्यवस्था के प्रयोग के साथ ही समाजशास्त्र का अनेक विषयो–विशेषत गणित, विज्ञान, राजनीति, युद्ध, धर्म, मनोविज्ञान, साहित्य आदि से सम्पर्क बढा और समाजशस्त्र के साथ इन विषयो को नवीन रूप प्राप्त हुआ। उदाहरण के लिये–राजनीति का समाजशास्त्र, धर्म का समाजशास्त्र, युद्ध का समाजशास्त्र, मनोविज्ञान का समाजशास्त्र, आदि का, समाजशास्त्र की साखाओ के रूप मे, अपने मूल रूप के समानान्तर एक नये रूप मे विकास हुआ। इसी प्रकार साहितय के समाजशास्त्र का भी अध्ययन लोकप्रिय हो गया, इसके परिणाम स्वरूप 'साहित्य का समाजशास्त्र' एक स्वतन्त्र शाखा के रूप मे समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय बन गया।

जिस प्रकार अन्य विषयो मे सामाशास्त्रीय अध्ययन साम्रगी पर्याप्त मात्रा मे होती है, उसी प्रकार साहित्य का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण इस क्षेत्र पर पर्याप्त विचार करने की सभावनाये है। परन्तु खेद है कि साहित्य के समाजशास्त्र पर स्वतन्त्र दृष्टिकोण का प्राय अभाव ही रहा है। लेकिन विचारको ने इस क्षेत्र मे अब ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया है।

आज साहित्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या के तीन रूप देखने को मिलते है।

1 पहला वर्ग उन आलोचक वर्ग का है जो साहित्य उद्गम (लिटरेचर–इमरजेसी) का होता है।

2 दूसरे वर्ग मे वे आलोचक है जो किसी रूढ वैचारिक परम्परा से सम्बद्ध है और हर चीज की व्याख्या या आलोचना एक विशेष दृष्टि से करने के आदी है। जैसे (माक्सवादी आलोचक तथा मनोविश्लेषण वादी आलोचक)

3 तीसरा वर्ग साहित्य की सामाजशास्त्रीय आलोचको का है जो मूलत समाजशास्त्रीयो का है, जो समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो के विद्वान है। ये समाजशास्त्र विषयक दृष्टि से साहित्य की आलोचना प्रस्तुत करते है। इस तीसरे पक्ष की अपेक्षा प्रथम व द्वितीय पक्षो मे भटकाव की सभावनाये अधिक होती है।

प्रथम वर्ग के आलोचक वे है जो स्वय लेखक, कहानीकार, उपन्यासकार या कवि है, और समाज के परिपेक्ष मे कृतियो के गुण–दोषो की चर्चा करते है। ये आलोचक साहित्य के विभिन्न समाज गत प्रेरक तत्वो का अध्ययन करते हुए साहित्यिक मूल्यो को प्रमुखता देते है। साहित्य व कला विवेचन मे इतिहास, दर्शन, धर्म, कला अर्थशास्त्र आदि विषयो का सहारा लेते है। परन्तु मूल भूमिका साहित्यिक ही बनी रहती है। ये आलोचक कृति तथा समाज के सम्बन्धो की व्याख्या अपने व्यक्तिगत विचारो एव भावात्मक शैली मे करते है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से साहित्य शब्द का सही अर्थ तब प्राप्त हो सकता है जब इसे साहित्य की कला अथवा भावमूलक साहित्य के रूप मे सीमित करके देखा जाय। मानव मे कुछ ऐसी प्रवृत्तियॉ होती है जो उसे सौन्दर्य अनुभूति एव सौन्दर्याभिव्यक्ति की प्रेरणा देती है। इसी प्रेरणा के परिणाम स्वरूप कला का जन्म होता है। जब मनुष्य की अनुभूति लालित्यपूर्ण (सौन्दर्य सिक्त) भाषा प्रतीको के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, तो साहित्य का जन्म होता है। यह साहित्य अन्य सभी साहित्य से व्यापक अर्थो मे भिन्न होता है और यही मूल साहित्य होता है।

१8 वी शताब्दी तक साहित्य की विवेचना अभिव्यजनावाद, शब्दार्थ के सहभाव से आगे नही बढ पायी थी, किन्तु क्रमश यह परम्परा सामाजिक प्रेरणा और सामाजिक उपयोगिता की ओर उन्मुख हुई। समाज और साहित्य के कार्य कारण सम्बन्धो के विवेचन पर आलोचक वर्ग केन्द्रित होने लगा, और उन्नीसवी शताब्दी मे साहित्य के

इतिहास लेखन को वैज्ञानिकता मिली। इस प्रकार साहित्य और समाज के अन्त रावलम्बन को लेकर एक विषद विवेचना सामने आयी।

'तेन' का कथन है कि किसी युग की सास्कृतिक अन्विति का अध्ययन जाति-धर्म, युग-धर्म, और सामाजिक प्रवृत्तियो के समीकृत अध्ययन से हो सकती है। इस सम्बन्ध मे एक और महत्वपूर्ण स्थापना क्रिस्टोफर कॉडवेल से आरम्भ हुई जिसमे साहित्य के समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक स्रोत्रो पर शोध आरम्भ हुआ। कॉडवेल का मूल विषय काव्य-विकास के स्रोतो तथा काव्य की प्रकृति और उनके विकास का समुचित उद्घाटन है। उन्होने इतिहास के दृष्टिकोण को अपना कर इन विषयो पर विस्तृत सूचनाये प्रस्तुत की है। जो इस विकास के क्रमागत स्वरूप निर्माण के साथ जगह-जगह तत् सम्बन्धी धारणाओ का भी निर्माण करती है। रेल्फ-फाक्स के ग्रन्थ 'दी नावेल एण्ड पिपुल' एव एलिजावेथ मनरो की रचना मे इस प्रसग पर नवीन प्रकाश डाला गया है। इसी परम्परा का एक स्वरूप साहित्य और कला के प्रयोजन के सिद्धान्त विकास की ओर केन्द्रित हुआ, और विभिन्न प्रश्न उठाये-कला कला के लिये है अथवा समाज के लिये? साहित्य किस लिए? स्वय के लिये या दूसरो के लिए? साहित्य का अन्तिम प्रयोजन क्या है, आत्मतुष्टि या समाज कल्याण? साहित्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड क्या है? साहित्य की उपलब्धि क्या है? ? इन प्रश्नो ने साहित्य क्षेत्र मे विचार को नया मोड दिया। इनका सागोपाग विवेचन आगे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायेगा।

विचारो मे द्वन्द्व या क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप नित्य नये प्रतिमानो की स्थापना होती है, इसी क्रम मे साहित्य व कला के क्षेत्र मे एक और आन्दोलन का जन्म हुआ, कार्लमार्क्स और सिगमएड फ्रायड की विचारधाराओ के उदय के साथ मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिद्धान्त द्वारा समाज मे वर्ग-सघर्ष की विचारधारा और फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र के द्वारा कला या साहित्य की उत्पत्ति के मूल मे

दमित कामेच्छाओ की प्रवृत्ति का सिद्वान्त प्रस्तुत किया गया, जिससे विचार–जगत् मे एक बवन्डर सा आ गया।

मार्क्स के अनुसार जीवन स्थिर या अपरिवर्तन शील नही है, वह निरन्तर गतिशील है जिसे हमने पीछे व्याख्यायित किया है, किन्तु सहजता के लिये इसे दुबारा व्याख्यायित करना आवश्यक है–प्राचीन के प्रति मोह और नवीन के प्रति आकर्षण के फल स्वरूप द्वन्द्व उत्पन्न होता है, ऐतिहासिक दृष्टि से यही द्वन्द्व वर्ग सघर्ष के रूप मे परिणत होता है।

मार्क्स के अनुसार मानव जाति के विकास का इतिहास उत्पादन और वितरण के साधनो और वर्ग सघर्ष के दो ध्रुवो के बीच प्रवाहित होता है। और उसी सघर्ष के अनुकूल समय–समय पर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक आदर्श निर्मित होते रहते है। इस प्रकार की विचारधारा का साहित्य आलोचना पर व्यापक प्रभाव पडा जिसे साहित्य मे समाजवादी या प्रगतिवादी आलोचना के नाम से भी जाना गया। आलोचना के क्षेत्र मे यह विभिन्न पद्धतियो की भॉति एक पद्धति या दृष्टिकोण मात्र है। किन्तु इस क्षेत्र के आलोचको ने अपनी पद्धति को इतना कठोर आग्रह के साथ प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया कि स्वय इसके भीतर ही बहुत सी असगतियॉ, विरोधाभास, और वितर्क समाहित हो गये। प्राय यह भी प्रचारित किया गया कि मार्क्सवादी आलोचना पद्धति ही वैज्ञानिक पद्धति है, और यही सही अर्थो मे समाजशास्त्री आलोचना पद्धति है। परन्तु सुक्ष्मता से देखा जाय तो मार्क्सवादी आलोचना तथा समाजशास्त्री आलोचना मे भेद है। मार्क्सवादी आलोचना को यदि मार्क्सवादी आलोचना ही रहने दिया गया होता तो इसका कुछ भी नुकसान नही होता। किन्तु अपने मूल अधिकार क्षेत्रो के विस्तार का जो दुराग्रह किया गया उससे मूल मार्क्सवादी आलोचना की हानि हुई। यहॉ हम सक्षेप मे मार्क्सवादी आलोचना के विकास, सिद्धान्त तथा उससे जुडे कुछ दुराग्रह का अवलोकन करने का प्रयास करेगे।

मार्क्स और एजिल्स मूलत आर्थिक–राजनीतिक विचारक थे। मार्क्स तथा एजिल्स की साहित्य मे गहरी दिलचस्पी थी, और यह भी कहा जाता है कि मार्क्स ने 'बालजक' या विस्तृत समीक्षा भी लिखने का प्रयास किया था परन्तु राजनीतिक व्यवस्ताओ के कारण उसका यह सपना पूर्ण नही हो सका। यदि यह सपना पूरा हो गया होता तो हमे मार्क्स के कला और साहित्य सम्बन्धी विचारो को समझने का एक अवसर मिल गया होता। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद पद्धति मे कला, विशेषत साहित्य का क्या स्थान है इसे जानने के लिये, आज हमारे पास मार्क्स की प्रचलित विचारधारा, विभिन्न ग्रन्थो मे आये कला अथवा साहित्य सम्बन्धी उल्लेख, पत्रो एव समसामयिक समीक्षाओ मे, साहित्यिक कृतियो अथवा साहित्यकारो पर प्रकट किये विचार इतनी, ही सामग्री उपलब्ध है।

रूस मे साम्यवादी विचारधारा के विकास और उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के अन्तर्गत साहित्य और कला की स्थिति एव कार्य की भी विस्तृत व्याख्या की गयी जो मार्क्सवादी विचारधारा को नये मोड के साथ प्रस्तुत करती है। प्राय बाद के इन्ही विचारको के कारण मार्क्स के मूल विचार और आशय प्राय ढक गये और उसके स्थान पर एक नयी सकीर्ण और आग्रही व्याख्या ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया।

मार्क्स, साहित्य की एक सार्व भौमिकता की कल्पना करता है, जो वर्ग–हीत का ही नही वरन् सामाजिक आनन्द की सृष्टि भी करता है। एक स्थान पर काव्य सबन्धी मार्क्स का विवरण इस प्रकार है–

"कठिनाई यह समझने मे नही है कि ग्रीक कला और काव्य सामाजिक विकास के कुछ रूपो से सम्बद्ध है, बल्कि यह जानने मे है कि आज भी हमारे लिये वे कुछ सूरतो मे सौन्दर्यात्मक आनन्द के श्रोत तथा असाध्य आदर्श और नमूने क्यो बने हुए है?

मार्क्स के किसी उत्तराधिकारी ने इसका उत्तर नही दिया और न ही इस प्रश्न को कभी इमानदारी से दुहराया कि किस लिये साहित्य को यह युग–युग व्यापी शक्ति मिलती है? क्या केवल इस लिये कि साहित्य शासक वर्ग का हथियार है? या तत्कालीन समाज की अनुकृति है या इस लिये कि वह इसके अतिरिक्त भी कुछ और है?

साहित्य की सार्वभौमिकता और अनुभूति की गहराई, केवल विषय वस्तु को पाठक तक पहुचाने का माध्यम नही है,वह कलात्मक उपलब्धि का चरम आदर्श है। इसीलिए वह आलोचक के अनुशीलन का क्षेत्र है, कृतिकार का प्राण है। साहित्य की सफलता उसकी उत्तेजक शक्ति तक ही सीमित नही है। आलोचक चाहे सामाजिक विकास के नियम से कितनी ही अच्छी तरह परिचित क्यो न हो, सिर्फ इतना ही उसके लिये काफी नही है। मार्क्स का स्पष्ट निर्देश है कि कला का आनन्द उठाने के लिये आवश्यक है कि आदमी कलात्मक रूप से सुसस्कृत हो।[1]

जिन स्थानो पर मार्क्स शुद्ध खण्डन–मण्डल की दार्शनिकता मे व्यस्त हो जाते है, वहा उनके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर हीगल के अद्वैतात्मक नियतिवाद का अश काफी मात्रा मे मौजूद दृष्टिगत हो जाता है। भेद आग्रह का है परन्तु नियतिवाद और प्रयोगात्मक प्रयास दोनो की शाखाये फूटती हुई दिखाई देती है। परवर्ती मार्क्सवादियो मे इस आग्रह भेद से परस्पर विरोधी विचार–धाराओ और राजनीतियो की टकराहट सर्व विधित है। लेकिन यह धृष्टता कि साहित्यकार राजनीतिक भूमिका भी ग्रहण करे, राजनीतिक गतिशीलता की तुलना मे कला कृतियो को निम्न स्तर की समझा जाय, मार्क्सवादी साहित्यक दृष्टि की मूल स्थापना से भिन्न है।

यह तो बाद के दिनो मे देखा गया, जिसके प्रमुख उत्तरदायी प्लेखानोव के

---

1 मार्क्स इकोनामिकल फिलोसफिक मेन्यूस्क्रिप्ट 1884 साहित्य का समाजशास्त्र मान्यता और स्थापना से उदृघृत– पृ०–26

साहित्य को वर्गो की विशेषत शासक वर्ग की अभिव्यक्ति कह कर एक कडी और जोडी इस नई दृष्टि ने मार्क्स की मूल विचारधारा को पीछे ही नही छोडा बल्की उसमे परिवर्तन भी कर दिया। प्लेखानोव का कथन है–" कला का कार्य सैद्धान्तिक विषय वस्तु के बिना नही चल सकता। लेकिन जब कलाकार अपने समय की सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक प्रवृत्तियो की ओर से आखे मूद लेता है तो उसकी कृतियो मे व्यक्त किये गये विचारो का मूल्य काफी घट जाता है परिणाम स्वरूप स्वय कृतिओ की क्षति होती है। यह तथ्य कला व साहित्य के इतिहास के लिये इतना महत्वपूर्ण है कि "इसका निरीक्षण हर पहलू से होना चाहिए।"[2]

इसकी तुलना एन्जेल्स से करने पर

"तुम बिना कठिनाई के कथोपकथन को सजीव व प्रवाहयुक्त बना सकते है अत मुझे इसमे सदेह नही है कि अपने नाटक को रग मच के लिये प्रस्तुत करते समय तुम इसका ध्यान रखोगे। नि' सन्देह इससे सद्धान्तिक वस्तु को क्षति पहुचेगी, परन्तु यह अनिवार्य है। मेरी राय मे सैद्धान्तिक तत्वो के लिये सजीव यथार्थ को नही छोडना चाहिए। शिलर के लिये शेक्सपीयर को नही भूलना चाहिए"[3]

इसके बावजूद प्लेखानोव घोषित करता है

"जिस प्रकार से सेव के पेड से सेव ही पैदा होगा, तथा नाशपाती के पेड से नाशपाती, उसी प्रकार जो भी कलाकार मध्यवर्गीय दृष्टिकोण ग्रहण करेगा, नि–सदेह श्रमिक आन्दोलन के विरूद्ध हो जायेगा । इस प्रकार हृास के युग की कला भी ह्वासमुख हो जायेगी।"[4]

यहा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्लेखानोव का आग्रह मार्क्स से भिन्न हो

---

2 प्लेखनोव–कला ओर सामाजिक जीवन–साहित्य का समाज शास्त्र मान्यता और स्थापना से उदघृत । पृ०–28

3 एजेल्स–लालास को पत्र मई 1859– साहित्य का समाजशास्त्र मान्यता और स्थापना से उदघृत–डा० श्री राम मेहरोत्रा–पृ० 29

4 प्लेखनोव–कला और समाजिक जीवन– वही पृ०से०–29

जाता है। प्लेखानोव ने समाज के आर्थिक विकास और कला मे कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित किया है। यह पूछता है कि– ''क्या यह किन्ही स्तरो पर सभव है कि स्थिति और चेतना के बीच एक ओर समाज की अर्थनीति और तकनीक तथा दूसरी ओर उनकी कला के बीच कार्य–कारण सम्बन्ध का निरीक्षण किया जा सके? ओर उत्तर देता है–''कला का विकास उत्पादन शक्तियो के साथ कार्य कारण सम्बन्ध है, चाहे वह सम्बन्ध सदा सीधा हो''[1] लेकिन मार्क्स का विचार है कि समाज साहित्य के लिए सीमाये निर्धारित करता है परन्तु साहित्य की हर गति का कारण नही बनता।

समाजवादी यथार्थ के आगमन के साथ मार्क्सवादी आलोचना का तीसरा अर्थात कम्युनिस्ट युग आरम्भ होता है जिसमे कम्युनिस्ट पार्टी के उत्थान की कहानी और साहित्य एक स्वर हो गया। साहित्य अब पूरे रूप मे हथियार हो गया, और साहित्यकार 'समाज का प्रतिबिम्ब न हो कर मानव आत्मा का शिल्पी हो गया। रूस मे घोषणा की गयी कि सोवियत साहित्य की (जो ससार का सबसे प्रगतिशील साहित्य है) प्राण शक्ति इसी मे है कि इसके लिये जनता और राज्य के हितो के अतिरिक्त न कोई उद्देश्य है और न ही हो सकता है। यहॉ 'राज्य' शासकवर्ग और 'जनता' (मजदूर वर्ग) का अर्थ समझने मे कोई भ्रम नही होना चाहिए।

एक ओर साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब, बना फिर धीरे–धीरे 'वर्ग प्रतिबिम्ब' फिर 'मजदूर का प्रतिबिम्ब' बन गया, दूसरी ओर जनता को समेट कर मजदूर वर्ग, फिर मजदूर वर्ग से 'कम्युनिस्ट पार्टी', और कम्युनिष्ट पाटी को भी पार्टी नेतृत्व मे केन्द्रित कर दिया गया। इस निश्चित परिणति को गति इसलिये भी प्राप्त हुई कि इससे साहित्य का कार्य अत्यधिक सरल और लक्ष्योन्मुख हो गया, जो एक 'हथियार' के लिए आवश्यक है।

---

[1] प्लेखानोव–कला और समाजिक जीवन–साहित्य का समाजशास्त्र मान्यता और स्थापना पृ० 28–29

मार्क्सवाद के प्रसिद्ध आलोचक कॉडवेल और लूकाक्स भी इन्ही असगतियो के भीतर सीमित रह गये। कॉडवेल का विचार है कि महान कला का सृजन वर्गहीन समाज मे ही सभव है। इस बीच मजदूर वर्ग अपनी अभिव्यक्ति मध्यवर्गीय शब्दो और घारणाओ के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास कर रहा है, तथा मध्यवर्गीय लेखक–गण अपनी धारणाओ को मजदूर वर्गीय व्यवहार मे उतारने की चेष्टा कर रहे है।

उपरोक्त विवेचना से मार्क्सवादी आलोचना का मूल विकास और सीमा स्पष्ट हो जाती है। आज कल तो मार्क्सवादी आलोचना अत्यन्त रूढ हो गयी है। अपनी सरहद के भीतर वह ठीक है, किन्तु जब ये आलोचक अपनी सीमा के बाहर निकल कर अन्य पर अधिकार का प्रयास करते है तो एक और समस्या खडी होती है। कॉडवेल और लुकाक्स इसी आलोचना को जब मूल समाजशास्त्री आलोचना कहते है तो हमे या तो समाजशास्त्र की सीमा पर सदेह होता है या फिर इन आलोचको के ज्ञान पर ही ?

आज हिन्दी के आलोचक भी इसी भ्रम की स्थिति से गुजर रहे है। प्रश्न यह है कि 'समाज' 'समाजवाद' 'साम्यवाद' और 'प्रगतिवाद' आदि शब्दो के प्रयोग और व्यापक प्रचार मात्र से क्या कोई आलोचना समाजशास्त्रीय होने का दावा कर सकती है? हिन्दी मे मार्क्सवादी आलोचना को डा० देवराज ने प्रतिपादित किया हे कि–"समाजशास्त्रीय आलोचना को आलोचक की एक प्रमुख दृष्टि या प्रणाली के रूप मे अविहित करने का अधिकाश श्रेय मार्क्सवाद को है।"[1] ऐसा ही विचार प० नन्ददुलारे वाजपेयी का भी है।

किन्तु उन्होने शायद यह जानने का प्रयास भी नही किया कि मार्क्सवाद से अलग समाजशास्त्र भी कोई वस्तु है या नही। वास्तव मे यह एक बहुत बडा भ्रम है,

1 आलोचना (पत्रिका) 1951 पृष्ठ– 39

जिसका मूल कारण प्रथमतः आलोचना विशेष के मानदण्ड के प्रति अतिशय पूर्वाग्रह है, जो ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है और दूसरा समाजशास्त्र के विषय में पूर्ण अनभिज्ञता को माना जा सकता है। कभी भी साहित्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या मार्क्सवादी नहीं हो सकती। वस्तुतः यह आलोचना प्रणाली वर्ग भावना तथा आर्थिक विश्लेषण सम्बन्धी अतिवादी दृष्टिकोण को आधार बनाकर आज राजनीतिक प्रचार के माध्यम के रूप में अपनाई गयी है। जो समाज शास्त्रीय आलोचना से पूर्णतया भिन्न और दूर है। समाजशास्त्रीय आलोचना का दावा कोई तब तक नहीं कर सकता है जब तक व्यापक दृष्टि से उसका समाजशासत्र विषयक ज्ञान न हो।

मार्क्सवाद के अतिरिक्त आग्रही आलोचना का दूसरा रूप मनोविश्लेषण वादी आलोचना के अनुसार कला और साहित्य दोनों का उद्भव अचेतन मानस की दमित इच्छाओं (काम, भय, अहम इत्यादि) प्रेरणाओं में होता है। इसी काम शक्ति के उन्नयन के परिणाम स्वरूप कलाकार कला की सर्जना करता है। फ्रायड के कला विषयक सिद्धान्तो ने कला के आलोचकों को काफी सीमा तक प्रभावित किया और उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ने आधुनिक कथा साहित्य को काफी साहित्यिक प्रेरणा प्रदान की है। किन्तु मनोविश्लेषण की दमित कामेच्छा के सिद्धान्त की अति ने साहित्य में विरोधी भावना को भी जन्म दिया है। स्वयं फ्रायड के इस सिद्धान्त का मनोविश्लेषण बादियों ने कई स्थलों पर खन्डन किया है और सभी क्रियाओं का मूल कामेच्छा को मानने से इंकार कर दिया है।

कला के क्षेत्र में इस आलोचना के फलस्वरूप उत्पन्न 'डाडाइल्म', सुर्रियलिज्म, और नूतन विचार आन्दोलनों का सुत्रपात हुआ। सामाजिकता के स्थान पर उनमें व्यक्ति स्थापना अधिक महत्वपूर्ण होने लगी। व्यक्तित्व के अन्तर्द्वन्द्व के एकान्त काल्पनिक पक्ष के द्वारा बौद्धिक चित्रण के कारण कला और साहित्य की मूल अभिव्यंजना को आघात पहुंचता है। फिर भी मार्क्सवाद की अपेक्षा मनोविश्लेषणवाद ने

साहित्य को (सामाजिक यथार्थ के परिपेक्ष की दृष्टि से) अधिक ठारा भूमिका प्रदान की है। जिसमे साहित्यकार, पाठक और समाज की मन स्थिति का वेज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से सबसे बडी उपलब्धि है।

इस प्रकार हम मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रणेताओ का विश्लेषण सक्षिप्त मे प्रस्तुत कर आगे समाजशास्त्रीय आलोचना की इनसे भिन्नता को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेगे।

फ्रायड–सिग्मन्ड फ्रायड ने मनोविश्लेषण सिद्धान्त के आधार पर काव्य या कला प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला। उन्होने मनोविश्लेषण सिद्धान्त का प्रतिपादन 1895 के आस–पास किया। **मनोविश्लेशण शास्त्र पर लिखी उनकी** सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव सारगर्भित पुस्तक सन् 1938 मे अग्रेजी मे अनुवादित 'एन आउट लाइन ऑफ साइकोएनोलेसिस' प्रकाशित हुई। फ्रायड के अनुसार समस्त रचनात्मक साहित्य दमित वासनाओ का परिस्कृत रूप है। कला साहित्य सम्बन्धी अपने इस दृष्टिकोण को उन्होने मनोविश्लेषण पद्धति के अधीन प्रस्तुत भी किया है। उनकी दृष्टि मे मानव मन मे कतिपय ऐसी जन्मजात प्रवृत्तियॉ एव वासनाये विद्यमान रहती है। जिनकी न तो समाज के भीतर रह कर पूर्ण त्रृप्ती ही सभव है और न ही इनका पूर्ण दमन ही किया जा सकता है। अत इन दुर्दमनीय प्रबल इच्छाओ (विशेष रूप से कामेच्छाओ) का परितोष, मनुष्य विभिन्न प्रकार की कल्पनाओ मे करता है। क्योकि कल्पना मे मनुष्य, समाज के बन्धनो से पूर्णत मुक्त होता है।

फ्रायड–के अनुसार मनुष्य के 'दिवास्वप्न' एव 'निशा स्वप्न' इसी कल्पना के दो रूप है। जिनमे मनुष्य अपनी उन इच्छाओ की परितुष्टी की अनुभूति करता है जो कभी सामाजिक बन्धनो के अवरोध से कृतकार्य न हो सकी थी। फ्रायड की दृष्टि मे कलाकार भी इस सर्वभौम विधान के अनुसार मान मर्यादा, धन ऐश्वर्य, शक्ति, ख्याति, नारी प्रेम आदि के लिये पिपासित रहता है। किन्तु इसके पास इन सबकी प्राप्ति एव

परितृप्ति के साधनो का अभाव होता है, इसीलिये वह भी इन सबकी प्राप्ति परितोषजन्य आनन्दानुभूति के लिये कल्पना का सहारा लेता है जिसक परिणामस्वरूप रचनात्मक साहित्य का अविर्भाव होता है। परन्तु कलाकार की कल्पना जन साधारण की कल्पना से भिन्न होती है, क्योकि कला विहीन व्यक्ति की कल्पना मे ऐसे विचार और बिम्बो का समावेश होता है जो वैयक्तिक होने के कारण मात्र उसे ही बांध गम्य होते है। परन्तु कलाकार अपने सपनो को इस प्रकार रूपान्तरित करता है कि वे दूसरो तक न केवल सप्रेषित होते है वरन् दूसरो द्वारा आस्वादनीय भी समझे जाते है।[1]

एडलर–मनोविश्लेषण शास्त्र की व्याख्या मे फ्रायड के बाद अल्फ्रेड एडलर का स्थान दूसरा है। एडलर के अनुसार फ्रायड का काम वृत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त भ्रामक है, क्योकि उनकी दृष्टि मे काम वृत्ति को ही एकमात्र मूल प्रेरक शक्ति एव प्रत्येक प्रकार की चरित्रिक विचित्रताओ एव मानसिक व्याधियो का कारण स्वीकार नही किया जा सकता है। यद्यपि फ्रायड की भॉति एडलर भी मानव व्यक्तित्व के निर्माण एव विकास मे बाल्यावस्था के दिनो को ही नियामक ठहराते है। परन्तु फ्रायड जहा इस निर्माण के लिये जैवीय शक्तियो (विशेषत लिविडो) को उत्तरदायी मानते है, वही एडलर सामाजिक शक्तियो को। एडलर की दृष्टि मे समाज का प्रतिनिधित्व करने वाला 'चेतनमन' ही मनुष्य के अधिकाश क्रियाकलापो के लिए उत्तरदायी होता है। चूकि अहम चेतन मन का ही प्रतिरूप है, इसलिए एडलर के मनोविज्ञान मे 'लिविडो' को उतना महत्व प्राप्त नही है जितना अहम् अथवा श्रेष्टत्व ग्रन्थि (सुपिरियारटी कॉम्पलेक्स) को।

एडलर की दृष्टि मे मानव सभ्यता का इतिहास ही इस भाव के प्रयत्नो की

---

1 जार्ज सेन्ट्सवरी–ए हिट्री आफ इगलिस किटिसिज्म–पेज–7 शुक्लोचर हिन्दी–आलोचना पर पश्चात साहित्यिक अवघारणाओ का प्रभाव–पृ० 44–सत्यदेव मिश्र–से लिया गया।

कहानी है। कला साहित्य भी कलाकार के जीवन गत अभाओ की छतिपूर्ति, 'अहम स्थाजन' हेतु किये गये प्रयत्नो का लेखा–जोखा है।

जुग–मनोविश्लेषण शास्त्र के विवेचन मे श्रेष्ठता क्रम मे तीसरा स्थान कार्ल गुस्ताव जुग का है। वे फ्रायड के शिष्य तथा एक मनोवैज्ञानिक मन चिकित्सक थे। जुग की जीवन शक्ति समबन्धी अवधारणाओ मे फ्रायड की 'लिविडो' एव एडलर की 'स्वाग्रह वृत्ति' दोनो का ही अन्तर्भाव हो जाता है। जुग जीवन शक्ति को ही मनुष्य जीवन की प्रेरक शक्ति मानते है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य के जनन, विकास एव क्रिया के लिये यही शक्ति उत्तरदायी है। इस जीवन शक्ति की दिशा– अभिगमन के अनुरूप जुग मे मनुष्य को दो श्रेणियो मे (अन्तर्मुखी–व्यक्ति एव बहिमुर्खी व्यक्ति) विभाजित किया है। मन के लिए जुग ने 'साइकी' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होने मन अथवा 'साइकी' के तीन भेद किये है।

1 चेतन

2 व्यक्तिगत अचेतन

3 सामुहिक अथवा समष्टि अचेतन

व्यक्तिगत अचेतन के स्तर पर व्यक्ति विशेष की अतृप्त इच्छाये सवेग स्मृतियॉ, दमित वासनाये, आदि केन्द्रीभूत रहती है। वस्तुत यहा वे इच्छाये अथवा वासनाये सचित होती है जो कभी अचेतनमन के स्तर पर उतर आती है। जुग के अनुसार व्यक्तिगत अवचेतन से मनुष्य चेतन मन के स्तर पर बहुत सी घटनाओ को स्मृति के सहारे प्रतिष्ठित कर सकता है। अर्थात व्यक्तिगत अचेतन स्मृति के सहारे चेतनमन के पटल पर अवतरित हो सकता है।

व्यक्तिगत अचेतन मन के नीचे 'साइकी' की जो पर्त है, जुग उसे सामुहिक अचेतन अथवा समष्टि अचेतन कहते है। जुग के अनुसार मन के इस स्तर से चेतन

मन के पटल पर कुछ भी अवतरित नही होता। मनुष्य के सामुहिक चतन मन मे विगत पीढियो तथा आदि कालीन पूर्वजो के सचित अनुभव होते हे। जुग के अनुसार सामुहिक चेतन मन की सरचना सार्वभौम होती है, यह व्यक्ति विशेष मे भिन्न नही होती।

वस्तुत अवचेतन मन उन सभी बातो का भडार होत है, जिनकी स्थिति व्यक्ति–विशेष के अस्तित्व से पूर्व ही होती है। जुग के अनुसार ये सभी बाते सार्वजनिक बिम्बो के रूप मे प्रकट होती है। इन सार्वजनिक बिम्बो को जुग 'आद्यबिम्ब' भी कहते है। साथ ही वे यह भी मानते है कि ये आद्यबिम्ब मनुष्य को ऐतिहासिक विरासत के रूप मे प्राप्त नही होते, वरन ये बिम्ब मनुष्य के मानस स्थान मे सहज रूप से सस्कार वश केन्द्रीभूत हो जाते है।

जुग ने कला का उद्गम श्रोत इसी सामूहिक अचेतन को माना है। उसकी दृष्टि मे इस सामूहिक अचेतन मे अनत समय से सचित अनुभव एव सस्कार अथवा बिम्ब मनुष्य की अन्तर्वृत्तियो और बहिर्वृत्तियो के सामन्जस्य से काव्य कला के रूप मे प्रस्फुटित होते है।

समग्रत जुग कला का मूल उस मानव के अतश्चेतन (अचेतन) मे युग से सचित कालातीत सस्कारो को मानते है। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियो और बहिर्वृत्तियो के सामजस्य से ही यह उत्स काव्य कला की भागीरथी मे रूपायित हाता हे। कला–सर्जना का क्रम है– पहले सचित सस्कारो द्वारा आदर्श स्थापित किये जाते है। ये आदर्श देश कालातीत होते है। तत्पश्चात् स्मृतियो, बिम्बो, प्रतीको, मिथको द्वारा अभिव्यक्त होते है। इसी प्रकार नाना प्रक्रियाओ से वास्तविक काव्य की रचना होती है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र मे प्रतिपादित इन अवधारणाओ का प्रभाव पूर्वी तथा पश्चिमी

साहित्यशास्त्र पर व्यापक रूप से पडा। पश्चिमी समीक्षको की अनेक कृतियो की आधार भूमि ही यही मनोवैज्ञानिक अवघारणाये ही है। मान्ड बाड किग फ्रेंडरिक क्लार्क प्रस्कट, रावर्ट ग्रेब्ज, विलियम एम्पसन, हरवर्ट रीड, उब्लू० एच० आडेन, अमेरिकन समीक्षक लियॉनेल ट्रिलिग–प्रभृति समीक्षक मनोविज्ञान की इन अवधारणाओ से पर्याप्त प्रभावित रहे है।

इस प्रकार मनोविश्लेषणवादी आलोचना का मूल यह है कि साहित्य की सृष्टि, बाहय या समाजिक चेतना के आधार पर उतनी नही होती, जितनी उसकी अव्यक्त या अन्तरग चेतना के आधार पर होती है। इस अन्तरग चेतना का विश्लेषण फ्रायड ने एक विशेष दृष्टि के रूप मे किया। जिसका मुख्य तथ्य यह है कि मानव का अचेतन मानस ही वह आधारभूत सत्ता है जिस पर व्यक्ति की शैशवावस्था से ही अनेक विरोधी सस्कार पडते है और कुठाये बनती है। सामाजिक जीवन मे ये कुठाए बुद्धि द्वारा शासित रहती है। किन्तु स्वप्नावस्था मे ये विद्रोही हो जाती है और इच्छा तृप्ति का मार्ग ढूँढ लेती है। साहित्य मे भी यह इच्छातृप्ति की प्रक्रिया चला करती है। विशेष रूप से काव्य और कल्पना प्रधान साहित्य मे काव्य की समस्त रूप सृष्टि इस मूल भूत इच्छा तृप्ति का ही एक प्रच्छन्न प्रकार है।

इस प्रकार हम देख सकते है कि मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादी समीक्षा पद्धतियॉ दो पृथक सिद्धान्तो का आग्रह करती है। एक साहित्यकार या कृति को बहिरग सामाजिक, राजनीतिक पर्यावरण का आग्रह करती है, दूसरी रचना की अतरग व्यक्तिगत प्रक्रिया पर बल देती है। इस दृष्टि से दोनो आग्रह विशेष पर आधारित एकागी आलोचनाये है। समाजशास्त्रीय आलोचना इन दोनो से अपेक्षित सहायता लेती है और अपनी अलग मूलभूत पहचान बनाये रखती है।

वास्तव मे साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादो से न होकर जीवन से है। चाहे मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद हो या कोई भी वाद हो, जो भी साहित्य इस प्रकार

का प्रयास करता है वह सैद्धान्तिक आग्रह की सीमा से बाहर नही आ पाता है। विश्व व्यापी ख्याति उन्ही साहित्य मे आ पाती है जो सहज आत्माभिव्यक्ति के सर्जक होते है। और किसी भी प्रकार के आग्रह से मुक्त, स्वतन्त्रचेता होते है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न आयामो से गुजरने के दौरान साहित्य की आलोचना का विविध दृष्टिकोण, पर्याप्त विभाजन और विषय सापेक्ष रूपरेखा प्राप्त करता गया। साहित्य की आचारशास्त्री आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना, मार्क्सवादी आलोचना, आदि का रूप स्पष्ट हो जाता है। और उसके साथ ही समाजशास्त्रीय आलोचना ने भी एक दिशा प्राप्त कर ली है। किन्तु समाजशास्त्रीय आलोचना के साथ अभी भी समाजवादी आलोचको ने भ्रम फैलाये रखने का प्रयास किया है। समाजशास्त्री आलोचना मे कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न उठाये जा सकते है, जिनसे सामान्य पाठक भी विषय को अच्छी तरह आत्मसात कर सकता है, यथा समाजशास्त्र क्या है? साहित्य और कला के साथ इसका क्या सम्बन्ध है? समाजशासत्री आलोचना के मानदण्ड क्या है? किन आधारो पर आलोच्च कृति का विवेचन होता है? आदि। वस्तुत इन प्रश्नो के उत्तर के साथ ही समाजशास्त्रीय आलोचना का निखरा रूप स्वत स्पष्ट हो जायेगा।

प्राय यह घारणा रही है कि सामाजिक धटनाओ के अमूर्त होने के कारण, वे वैज्ञानिक अध्ययन क्षेत्र से प्राय बाहर है। इनका वैज्ञानिक अध्ययन असभव है। इस भ्रान्ति को दूर करने का श्रेय फ्रेच सामाजिक विचारक आगस्ट कोम्ट को है। उनके अनुसार अनुभव, निरीक्षण, प्रयोग तथा वर्गीकरण की व्यवस्थित कार्य प्रणाली या पद्धति द्वारा न केवल प्राकृतिक घटनाओ का ही अध्ययन सभव है बल्कि समाज और उसके घटक तत्वो का भी अध्ययन सभव है। प्राकृतिक घटनाओ के ही अनुसार मानवीय व सामाजिक घटनाये भी आकस्मिक नही होती, बल्कि वे भी कुछ (निश्चित व लोचदार) सामाजिक नियमो के अन्तर्गत आती है। और उनसे निर्देशित होती है। सामाजिक

घटनाये मात्र ईश्वर की इच्छानुसार ही नही घटती है, वरन् प्रत्येक सामाजिक प्रक्रियाओ के अनेक तार्किक आधार होते है। प्रकृत और प्राकृियाओ घटनाओ की ही भॉति समाज और सामाजिक जीवन भी गतिशील तत्वो पर आधारित है। अत उसका भी समाज वैज्ञानिक अध्ययन सभव है। कॉम्ट का विश्वास था कि सामाजिक घटनाओ का अध्ययन एक विशेष अध्ययन क्षेत्र का विषय है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है।

मैक्स वेबर के अनुसार तार्किक रीति से सामाजिक घटनाओ के कार्य–कारण सम्बन्ध को समझने के लिए घटनाओ को समानताओ के आधार पर विभाजित करना आवश्यक है। ऐसा करने से हमे अपने अध्ययन के लिए कुछ आदर्श प्रारूप घटनाये मिल जायेगी। आदर्श प्रारूप न तो औसद प्रारूप है, न ही आदर्शात्मक, वरन् वास्तविकताओ के कुछ विशिष्ट तत्वो के विचार पूर्वक चुनाव तथा सम्मिलन द्वारा निर्मित आदर्शात्मक मान है। मैक्सवेबर के अनुसार समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव मे सामाजिक घटनाओ के क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत और जटिल है। इस कारण घटनाओ के विश्लेषण मे सुविधा व यथार्थता के लिये यह आवश्यक है कि समानताओ के आधार पर विचार पूर्वक तर्कसगत ढग से कुछ वास्तविक घटनाओ या व्यक्तियो को इस प्रकार चुन लिया जाय जो कि उस आकार की समस्त घटनाओ या व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व कर सके।

पारसन्स ने समाज के घटन तत्वो के बीच होने वाली सामाजिक क्रियाओ के अध्ययन को समाजशास्त्र का मूल विषय कहा है।

सरोकिन ने भी समाजशास्त्र को सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओ की सामान्य विशेषताओ और उनके पारस्परिक सम्बन्धो के अध्ययन का विज्ञान कहा है।

अब प्रश्न यह है कि–साहित्य क्या है? साहित्य की सवेदना क्या है? उसकी

विषय वस्तु क्या है? उत्तर के रूप मे कहा जा सकता है कि साहित्य लेखक या कवि की चेतना के भीतर उठे तनाव, आन्दोलन या बेचैनी की सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति है। चेतना का यह आन्दोलन साहित्यकार के सामाजिक परिवेश उसकी बहुसख्यक अनुभूतियो और निज के निरीक्षण–अनुभव की विषयवस्तु है। यह विषयवस्तु सपूर्ण मे सामाजिक घटना ही है। जो साहित्यकार के समूह या कलाकार मे उसके प्रत्यक्ष जीवन से उठा और अभिव्यक्त हुआ हो या कल्पना द्वारा निर्मित हो, सामाजिक घटनाओ के अतिरिक्त कुछ नही है। साहित्य अथवा कला समाज की वैचारिकी का निर्माण करती है। चाहे वह काल्पनिक हो या सजीव हो। वैचारिकी का योग सामाजिक घटनाये ही है। कवि वर्तमान का चित्रण कर किन्ही मूल्यो की स्थापना करे या कल्पना द्वारा यह कार्य करे– यह सब वह अपने वर्ग समूह या अपने समाज की घटनाओ के आधार पर ही करता है। इस प्रकार उसके द्वारा प्रस्तुत कृति और उसमे अभिव्यक्ति सामाजिक घटनाओ का समाज वैज्ञानिक अध्ययन सभव है। समाज की घटनाये जिनका समाजशास्त्र अध्ययन करता है, और जो साहित्य मे चित्रित किया जाता है वस्तुत सामाजिक सस्कृति, सभयता, एव इसके घटक समूह, समितियॉ, सस्थाये, जाति, परिवार, विवाह, कानून, धर्म, दर्शन, राजनीति, साहित्य, कला, भाषा आदि और इन तत्वो का भोक्ता सामाजिक व्यक्ति और उसके अन्त सम्बन्ध, अन्त क्रियाये आदि से सब कुछ एक जाल सा बुना होता है। समाजशास्त्र को सामाजिक घटनाओ और समाजिक अन्त सम्बन्धो के अध्ययन का विज्ञान कहा जाता है।

सहित्य की सपूर्ण विषय–वस्तु भी इन्ही सामाजिक घटनाओ के विभिन्न तत्वो द्वारा निर्मित होती है। साहित्य अपने समाज की सस्कृतिक मूल्यो का वाहम व व्याख्याता होता है। अपने समाज की वृत्तियो का चित्राण तथा उसका परिस्करण, मूल्यो के विस्तार तथा उसका अन्त सम्भन्धो की स्थापना करने वाली एक कार्य प्रणाली होने के कारण स्वय एक सस्था होता है।

आज तक समाजशास्त्र किसी समुह के घटक तत्वो का अध्ययन उनकी ईकाईयो को समझने की ओर बढता जा रहा है। जैसे व्यक्ति का समाज के साथ क्या सम्बन्ध है,? इसे समझने के लिये उसके सामुदायिक जीवन का अध्ययन आवश्यक हो गया है।

ए० स्माल तथा सी०जे० गैलपिन आदि समाजशास्त्रीयो ने गॉव नगर तथा अन्य प्राथमिक समूहो के अध्ययन द्वारा यह पता लगाने का प्रयत्न किया कि व्यक्ति का उसके वृहत्तर समूह के साथ क्या सबन्ध है। इन्ही समूहो के अध्ययन के आधार पर कूले ने मानव समूहो को प्राथमिक और द्वितीयक समूहो मे विभाजित किया। उनके अनुसार प्रथामिक समूहो का व्यक्ति के व्यक्तित्व पर द्वितीयक समूहो से कही अधिक प्रभाव पडता है। इन्ही अध्ययनो से प्रोत्साहित होकर आर०ई०पार्क और बरजेस आदि समाजशास्त्रीयो ने नगरो का जनसख्यात्मक तथा सरचनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया। इसी आधार पर बाद मे समूहो के अन्त सबन्धो के वैज्ञानिक स्वरूपो के अध्ययन की बात भी समाजशास्त्र मे आयी। इसी से समाजमिति पद्धति का विकास हुआ। इस पद्धति के विकास के साथ इस बात के अध्ययन पर बल दिया गया कि व्यक्ति और समूह अथवा समूह और समूह के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धो का मनोवैज्ञानिक पक्ष या आधार क्या है?

जी०टार्ड० तथा ई०ए० रॉस ने यह निष्कर्ष निकाला कि सामाजिक जीवन मे अनुकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अत्यधिक महत्वपूर्ण है। थामस और फनैनिकी ने समूहो के सम्बन्धो के बीच मनोवृत्तियो तथा मूल्यो को अधिक बल दिया है। साहित्य अथवा कोई भी अन्य कला अपने लेखक या कलाकार के समूह मन की अभिव्यक्ति है। साहित्यकार मुख्यत अपने समूह या वर्ग की भावनाओ का ही अपनी रचनाओ मे प्रतिनिधित्वपूर्ण चित्रण करता है। किन्तु उसकी ग्रहणशीलता इस प्रकार के आदर्श प्रारूप को अपने समूह से ढूँढ निकालने मे सक्षम होती है। जिनका आधार समूह मन

तो होता ही है उसका विस्तार मानव मन अर्थात विश्व–मानव तक अपने आप हो जाता है। कालीदास ने कभी विश्व–मानव की अभिवृत्तियो के विस्तार का ध्यान कर अपने नाटको की रचना नही की थी, किन्तु अपने ही समूह से ऐसे आदर्श प्रारूपो का चयन व अभिव्यक्ति किया था, जिसके कारण उनकी कृतियो मे वर्णित वस्तुए सम्पूर्ण विश्व–मानव व विश्वसमूह की वस्तु है। यही है छोटे समूह–उत्पादन से वृहत्तर समूह मे विस्तार।

सराश यह है कि साहित्य के अध्ययन के लिये समाजमिति पद्धति का सफल प्रयोग किया जा सकता है।

समाजशासत्र के सम्बन्ध मे इटालियन सामाजिक विचारक विलफ्रेडो पैरेटो की धारणा है कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन से समाजशास्त्र का अध्ययन अधिक सपूर्ण है। क्योकि यह विज्ञान विभिन्न सामाजिक घटनाओ तथा तथ्यो के पारस्परिक सम्बन्ध एव निर्भरता को स्वीकार करता है।

प्रो० हेज का कथन है कि प्रत्येक विज्ञान की चार समस्याये होती है–

1 मुख्य समस्या (Problem Facts)

2 मुख्य समस्या के घटक तत्व (Elemental Facts)

3 प्रभावक तत्व (Condıtıonıng Facts)

4 परिणाम तत्व (Resultant facts)

समाजशास्त्र की मुख्य समस्या, समाज एव सामाजिक–सम्बन्ध है। इस समस्या के घटक तत्व वे मानसिक तत्व है जिनसे सामाजिक व्यवहार चलाता है। इन मानसिक तत्वो का विस्तार से विवेचन करते हुए जर्मन समाजशास्त्री वीरकान्त ने बताया कि–जब मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध होता है तब लज्जा, प्रेम द्वेष, सहकारिता, प्रतिस्पर्धा, अधिकार की भावना, लालसा आदि अनेक प्रकार के मानसिक सम्बन्ध प्रकट होते है। यही मानसिक सम्बन्ध एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के साथ

जोडते है। प्रेम एक मानसिक तत्व है, द्वेष लालसा, लज्जा ए सभी मूल तत्व है। मानसिक तत्व ही समाज को बनाने वाले घटक तत्व है। सामाजिक भावना तभी उत्पन्न होती है जब हम किसी से प्रेम करने लगते है, किसी से द्वेष भी भवना रखते है। किसी से सहयोग, किसी से लज्जा और किसी से भय आदि ये सारे मानसिक तत्व समाजशास्त्र के विषय है इनका अध्ययन समाजशास्त्र अपने तरीके से करता है उदाहरण स्वरूप–श्रम कार्य, एक सिद्धान्त है जिसका आधार है सहयोग। समाजशास्त्र का कार्य सहयोग के मानसिक तत्व पर आश्रित श्रम कार्य का वर्णन सामाजिक सदर्भ मे कर देना मात्र है, अर्थशास्त्र के साथ प्रतियोगिता करना नही है।

प्राय ये ही मानसिक तत्व जिनका वर्णन वीरकान्त ने किया है–साहित्य के भी विषय है। साहित्य मे भी मनुष्य की इन्ही वृत्तियो यथा–ईर्ष्या, घृणा, प्रेम, क्रोध, सहयोग, आदि का नाटक, कहानी, उपन्यास कविता आदि मे रागात्मक चित्रण किया जाता है। सपूर्ण भारतीय व पाश्चात विचार धारा यह स्पष्ट करती है साहित्य की विश्व–जनीन प्रक्रिया इन्ही भावो, विभागो की सीमा मे असीम होती है। सस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ, नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने भाव का अर्थ व्याप्ति बताते हुए कहा है कि–'भाव अभिनय के द्वारा काव्यार्थ की भावना कराते है।'' अर्थात कवि के प्रतिपाद्य अभीष्ट को सामाजिक (श्रोता या पाठक) के अन्तस् मे व्याप्त कर देते है। यहा भाव को 'कारण' अथवा 'साधन' माना गया है। इसे यो कह सकते है– कवि अपनी रचना को सामाजिक के आश्वादन की वसतु तभी बना सकता है। जब भाव पूर्ण हो। भाव की अनुपस्थिति मे कवि एव सामाजिक के बीच कोई मानसिक सम्बन्ध नही हो पाता है। ये भाव मुख, नेत्र या वाणी द्वारा मन की बात प्रकट कर सामाजिक से अन्त सम्बन्ध बना लेते है। पाश्चात्य साहित्य मे 'केथारसिस' सिद्धान्त के द्वारा मनोभावो के परिस्कार की जो बात कही गयी है, वह भी इसी सत्य को प्रतिपादित करती है।

भारतीय काव्य शास्त्रीयो ने नौ ऐसे भावो का विवेचन किया है जो मुनष्य मात्रा मे सार्वजनिक माने जाते है। आज कल मनोविज्ञान के क्षेत्रा मे भावो का गम्भीर विवेचन चल रहा है।

सारत प्रत्येक प्राणी कुछ मूल प्रवृत्तियॉ लेकर पैदा होता है। इन्ही मूल प्रवृत्तियो को अग्रेजी मे 'इस्टिक्ट' कहते है प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ उस वृत्ति के भाव का आवेग भी लगा रहता है। भाव का यही आवेग' इमोशन' कहलाता है।

मैकडूगल के कथानुसार–मनुष्य की मूल प्रवृत्तियो का क्रियात्मक प्रकाश ही भाव है, मैकेडूगल के विचार मे मूल प्रवृत्तियॉ 14 होती है। किन्तु भारतीय आचार्यो ने मुख्यत नौ मूल प्रवृत्तियॉ मानी है। जिन्हे हम स्थायी भाव भी कहते है। इन्ही स्थायी भावो पर रस आलम्बित होता है। सुक्ष्मता से देखने पर यह ज्ञात होता है कि मैकडूगल द्वारा गिनाई गयी 4 मूल प्रवृत्तियो का समाहार एक ही वृत्ति मे हो जाता है– यथा– प्रजनन, मैथुर, निर्माण व सघ वृत्ति का समाहार हमारी एक ही वृत्ति श्रृगार भाव मे हो जाता है। इस प्रकार भारतीय आचार्यो ने जो नौ प्रवृत्तियॉ या स्थायी भाव उद्घाटित किये है वे इस प्रकार है– श्रृगार, विनोद, उत्साह क्रोध, भय, घृणा, शोक आश्चर्य, निर्वेद। ये ही स्थायी भाव रस के विभिन्न मूल रूप है इससे यह सावित होता है कि समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र–मानसिकतत्व तथा साहित्य के भावो मे कोई अन्तर नही है। साहित्य मानव भावो को व्यक्त कर कवि और सामाजिक (पाठक) व समाज मे अन्त सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी अन्त सम्बन्ध को समाजशास्त्र मे सामाजिक सम्बन्ध भी कहा जाता है। और इसे साहित्य के क्षेत्र मे साधारणीकरण भी कहा जाता है।

साधारणीकरण मे व्यक्ति की अनुभूति नीजी न हो कर सर्व–साधारण की अनुभूति हो जाती है, वह देश–काल से उपर उठ जाता है उसका 'मै' का भाव समाप्त हो जाता है, प्रभाता का ह्रदय रसानुभूति को अखण्ड रूप मे ग्रहण करता है,

यही साधारणीकरण है। यही समाजीकर भी है।

साहित्य का सामाजशास्त्र साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य–सम्बन्धी एक नवीनतम विचारधारा है जिसके अन्तर्गत साहित्य–निर्माण की सामाजिक प्रक्रियाओ, परिवेशो और समाज मे लेखको की स्थिति आदि के सबध मे विचार किया जाता है। इसके अतर्गत साहित्यिक उत्पादन के साधनो, वितरण व्यवस्था और समाज मे साहित्य के प्रचार–प्रसार की स्थिति पर भी विचार किया जाता है और इस बात पर भी कि किताबे कैसे प्रकाशित होती है? और कैसे पाठको तक पहुॅचती है? साथ ही, साहित्य का समाज शास्त्र यह भी देखता है कि समाज मे शिक्षा का स्तर क्या है और समाज मे लेखको का स्थान क्या है तथा उनकी आर्थिक–सामाजिक स्थिति क्या है? इसके द्वारा पाठको की सख्या और किसी किताब की पाठक सख्या का भी ऑकडा प्रस्तुत किया जाता है जिसके आधार पर विभिन्न पुस्तको की लोकप्रियता और उनकी प्रासगिकता जॉची जा सकती है।

साहित्य का यह समाजशास्त्रीय अध्ययन साहित्य के सौन्दर्य पक्ष से अपना कोई सरोकार नही बनाता और न ही उनका सबध मार्क्सवादी समाजशास्त्र से ही है। बहुत से लोगो को यह भ्रम है कि साहित्य का समजाशास्त्र मार्क्सवादी समाजशास्त्र है, लेकिन वास्तव मे ऐसा है नही। टेरो एग्लिनटन ने 'मार्किसज्म एण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज्म' मे स्पष्ट किया है कि– 'मार्क्सवादी सान्दर्यशास्त्र' 'साहित्य के समाजशास्त्र' से कही अधिक है। साहित्य के समाजशास्त्र का मुख्य सबध साहित्यक उत्पादन के साधनो, वितरण और एक खास समाज मे विनिमय से है। किताब कैसे प्रकाशित होती है, लेखको की सामाजिक स्थिति क्या है, पाठको की सख्या कितनी है, शिक्षा का स्तर क्या है आदि बातो के लेखा–जोखा तक ही यह सीमित है। इससे पाठ की सामाजिक प्रासगिकता जानी जाती है। दूसरे शब्दो मे कृति के पाठ से उन

वस्तुओ को निचोड लिया जाय जिनमे सामाजिक इतिहासकारो की दिलचस्पी हो। वह न तो मार्क्सवादी है और न आलोचनात्मक।'

साहित्य के समाशास्त्र के उदय का एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी है। मार्क्सवादी समाजशास्त्र के प्रचार–प्रसार के समानान्तर और कुछ हद तक इसकी प्रतिक्रिया मे भी इसे साम्यवाद विरोधी खेमे की ओर से खडा किया गया है ताकि मार्क्सवादी समाजशास्त्र का पूँजीवाद की ओर से एक अच्छा विकल्प दिया जा सके। इस तरह का पहला महत्वपूर्ण प्रयास स्टैमलर ने किया जिसने आर्थिक कार्य–व्यापारो के लिए विधि की अनिवार्यता पर विशेष जोर दिया। मार्क्सवादी समाजशास्त्र का एक प्रबल विरोध पक्ष क्रोचे ने भी खडा किया क्योकि क्रोचे को भी मार्क्सवादी दर्शन मे कुछ नया नही दिखायी पडा। वैसे इन सब मे सर्वाधिक प्रभावशाली विरोध–पक्ष मैक्सवेबर के द्वारा खडा किया गया जिसने मूल मार्क्सवादी दर्शन– "समस्त सामाजिक–सास्कृतिक स्थितियो को अर्थ–व्यवस्था ही नियत्रित करती है–" को ही मानने से इन्कार कर दिया। मार्क्सवादी समाज–व्यवस्था के सबध मे उसका मानना था कि उसमे सर्वहारा की प्रभुसत्ता नही होगी बल्कि राजपुरूषो की डिक्टेटरशिप होगी। और आज सोवियत सघ की घटनाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि मैक्सवेबर अपने इन निष्कर्षो मे कितना सही था। यही कारण है कि मैक्सवेबर अधिकाश पश्चिमी देशो मे सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और अमेरिकी आलोचना ने तो उसे समग्रता मे ग्रहण किया।

मार्क्सवादी चिन्तर मे भी साहित्य और कला की विस्तृत विवेचना का इधर लम्बा दौर गुजर चुका है और ट्राट्स्की, प्लेखानोव, लूकाच, ग्राम्शी आदि विचारको और आलोचको ने मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य या कला के विवेचन मे पर्याप्त रूचि ली है जिसके फलस्वरूप मार्क्सवादी साहित्यशास्त्र का भरपूर विकास हुआ है। मार्क्सवादी साहित्यशास्त्र या आलोचना साहित्यक कृति को सपूर्णता मे विवचित करने

का भी महत्वपूर्ण कार्य है। शिल्प और वस्तु रूप–दोनो का विवेचन इसके अन्तर्गत होता है। साहित्य या कला का सौन्दर्य विवेचन भी इसके अतर्गत हुआ है और सौन्दर्यशास्त्र एव समाजशस्त्र के द्वन्द और तनाव के माध्यम से कला या साहित्य की नयी सार्थकता भी प्रतिपादित की गयी है।

साहित्य का यह समाजशास्त्री अध्ययन साहित्य और समाज के सम्बन्धो पर आधारित है और दोनो के परस्पर सम्बन्धो और प्रभावो का अध्ययन प्रस्तुत करता है। आज का लेखक समाज की व्यवस्था और प्रभावो का अध्ययन प्रस्तुत करता है। आज का लेखक समाज की व्यवस्था और उसकी विभिन्न स्थितियो विसगतियो से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। लेखक जैसी समाज–व्यवस्था मे रहता है जैसी आर्थिक स्थिति और सास्कृतिक वातावरण मे वह सॉस लेता है, वैसी ही उसकी विचारधारा भी निर्मित होती है। दूसरे शब्दो मे लेखक की विचारधारा उसके विश्वास, उसकी आदते–सब उसकी विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक एव सास्कृतिक परिवेश से निर्मित होती है और उसी से परिचालित होती है। लेखक पर उसके समाज का, उसके रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, आचार–विचार, रीति–रिवाज, पर्व–त्योहार, व्रत–उपवास, मनोरजन, खेल–कूद– ये तथा इन जैसी तमाम बातो का प्रभाव पडता है ओर उसकी रचना–प्रक्रिया इन सबसे किसी–न–किसी रूप मे प्रभावित होती है। अतएव साहित्य के अध्ययन–विश्लेषण मे इन बातो का भी उपयोग किया जा सकता है।

साहित्य के समाजशास्त्र का प्रसिद्ध प्रवर्त्तक डकन साहित्य को एक सस्था मानता है और धर्म, दर्शन और राजनीति की भॉति साहित्य भी एक सस्था के रूप मे समाज मे आपका महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। साहित्य नामक इस सस्था के प्रमुख अग है– लेखक, आलोचक, पाठक और प्रकाशक और इन चारो के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध होता है जो इन चारो को समन्वित और सतुलित करता है। साहित्य को

समझने के लिए इसके इस सस्थान तथा उसके विभिन्न अगो को समझना आवश्यक है। ह्वाको तो साहित्य को ही एक घटना के रूप मे देखता है, जो लेखक, आलोचक, पाठक और प्रकाशक या सरक्षक की अन्त क्रियाओ द्वारा घटित होती है। एस्कारपिट भी इनमे से तीन घटको को मान्यता देता है और लेखक, रचना और पाठक के त्रिकोण से साहित्य–विश्लेशण पर जोर देता है। अन्य तत्त्वो को वह इन्ही तीन मे सम्मिलित कर लेता है। आगे चलकर एस्कारपिट के इस त्रिकोणीय घटक को ही पश्चिम मे व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त हुई है।

डकन ने एक कृति के विश्लेषण का एक सुन्दर आधार भी प्रस्तुत किया। जिसके अनुसार लेखक, आलोचक और पाठक इन तीनो इकाईयो को परस्पर अन्त सम्बन्धो पर विचार करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। साहित्य का भी एक समाज होता है, प्राय वह स्वतन्त्र होता है, इसके तीन अवयव होते है। लेखक, पाठक व आलोचक। इन तीनो मे अन्त सम्बन्ध से एक साहित्य समाज का निर्माण होता है, इस समाज को निम्न रेखाचित्रो द्वारा समझाया जा सकता है।
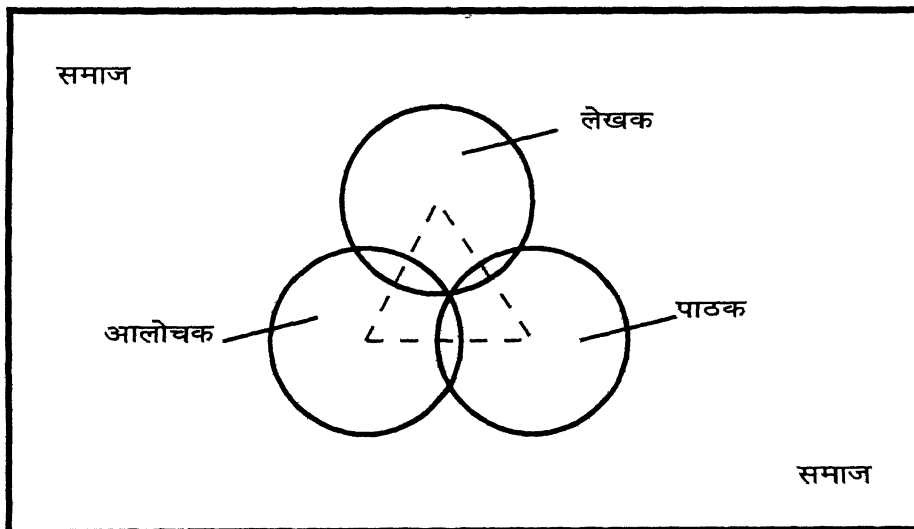
लेखक पाठक का जब घनिष्ठ सम्बन्ध होता है तो आलोचक गौण हो जाता है।

जब लेखक आलोचक घनिष्ठ होते है तो पाठक गौण हो जाता है।

3. लेखक

जब कभी आलोचक व पाठक घनिष्ट हो जाते है तो लेखक गौण हो जाता है।

साहित्य सस्था की एक ऐसी भी स्थिति आती है जब लेखक आलोचक और पाठक पूर्णतया अन्त सम्बन्धित हो जाते है, और तीनो परस्पर पूर्ति के रूप मे प्रक्रिया करते है।

इस त्रिकोण का प्रथम महत्त्वपूर्ण अग है लेखक, जो समस्त सरचना या कृति का सूत्रधार होता है साहित्य मे उसके व्यक्तित्व का उद्घाटन होता है। अत साहित्य को समझने के लिए लेखक के व्यक्तित्व का तथा उसे रूपायित करने वाले विभिन्न सामाजिक तत्वो का विश्लेषण आवश्यक है। लेखक अपनी रचना मे अपने को तथा अपने सामाजिक–सास्कृतिक परिवेश के व्यक्त करता है तथा लेखक किस प्रकार के सामाजिक सास्कृतिक वातारण मे रहता है, उन सब का चित्रण वह अनिवार्यत अपने साहित्य मे करता है। इसीलिए एस्कारपिट लेखक के वर्ग, उसके आर्थिक ससाधन, सरक्षण आदि के विवेचन पर विशेष जोर देता है। एलन स्विगउड तथा डायनालारेन्स भी लगभग इसी मत के है और उनका भी यही विश्वास है कि लेखक की रचना पर सही–सही विचार तभी किया जा सकता है, जब लेखक की सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक अवस्था के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी इकट्ठी की जाय।

इस प्रकार लेखक की वर्गीय स्थिति और उसके आर्थिक, समाजिक परिवेश का दबाव उसकी रचना–प्रक्रिया को अनिवार्य रूप मे प्रभावित करता है। इसीलिए रचना के विवेचन मे इनका भी उपयोग किया जाता है। लेखक की वर्गीय स्थिति और सामाजिक–आर्थिक समस्याओ के प्रति उसके दृष्टिकोण के ब्यौरे इकट्ठा करना तो आसान है, किन्तु रचना मे उनके फलितार्थो का अन्वेषण और विवेचन काफी मुश्किल काम है। वर्गीय स्थिति से किसी लेखक की कृति का क्या सम्बन्ध होता है इस पर विद्वानो मे मतभेद है। कुछ लोग इस सम्बन्ध को अनिवार्य और स्वाभाविक मानते है तो कुछ का ख्याल है कि यह कल्पना भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुत इसकी वजह यह है कि कभी–कभी इसके आधार पर निर्णय लेने मे विसगतियॉ उत्पन्न हो जाती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि कुछ अपवादो को छोडकर यह सम्बन्ध लेखक को और उसकी रचना को भी समझने मे हमारी सहायता करता है। डॉ० बच्चन सिह ने इस प्रसग की चर्चा करते हुए रीतिकालीन कवियो के निर्णय और मूल्याकन का प्रश्न

उठाया है और यह कहा है कि रीतिकालीन कवियो के साथ उनकी वर्गीय स्थिति का सम्बन्ध नही दिखाया जा सकता—"पर रीतिबद्ध कवियो की वर्गीय स्थिति ओर उनके अभिजातीय काव्य से बहुत ताल—मेल नही बैठेगा।" आगे अपने कथन के प्रमाण मे पश्चिमी आलोचक रेनेवेलक का हवाला देते हुए डॉ० सिह उसे उद्धृत भी करते है— "अधिकाश दरबारी साहित्य उन लोगो ने लिखा था जिन्होने निम्न हैसियत के परिवारो मे जन्म लेने के बावजूद अपने आश्रयदाताओ की रूचि और विचारधारा अपना ली थी। पुश्किल, गोगोल, तुर्गनेव, ताल्सताय, बालजाक आदि को वर्गीय दृष्टि से देखने पर उन रचनाओ मे भू—स्वामियो का हित दिखायी पडेगा जो गलत है। स्मरण रखना चाहिए कि स्वय मार्क्स और एगिल्स उच्च मध्य वर्ग के व्यक्ति थे।[1]"

डॉ० बच्चन सिह ने वर्गीय दृष्टि की कुछ विसगतियो की ओर इगित किया है फिर भी कबीर अथवा तुलसीदास के अध्ययन मे वर्गीय दृष्टि की उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता। कबीर की वर्गीय स्थिति का विश्लेषण उनकी रचनाओ को समझने मे सहायक होगा। इसी प्रकार तुलसीदास के अन्तर्विरोधो को भी उनकी वर्गीय स्थिति के विश्लेषण द्वारा समझा जा सकता है। आधुनिक गद्य लेखको मे प्रेमचन्द्र का अध्ययन वर्गीय स्थिति के अनुसार उपयुक्त हो सकता है और हिन्दी मे इस तरह के न्यूनाधिक प्रयास भी किये गये है। जैनेन्द्र और अज्ञेय की वर्गीय स्थिति भी उनके साहित्य को समझने की महत्त्वपूर्ण कुन्जी बन सकती है। यहॉ तक कि नये कवियो मे मुक्तिबोध और धूमिल को भी उनकी वर्गीय स्थितियो के सन्दर्भ मे रखकर हम उन्हे अधिक सम्प्रेषणीय और व्यापक बना सकते है।

किन्तु कहने की आवश्यकता नही कि पाठको की सख्या के आधार पर किसी कृति की मूल्यवत्ता का निर्धारण बहुत समीचीन नही कहा जा सकता है क्योकि पाठको

---

1 साहित्य का समाजशास्त्र मे उद्धृत — पृ० 4

की बेशुमार सख्या के बावजूद भी कोई रचना साधारण और निम्न कोटि की हो सकती है– होती है। 'चन्द्रकान्ता सतति' एव 'भारत भारती' का उदाहरणार्थ उल्लेख किया जा सकता है जिनके पाठको की सख्या किसी समय बेशुमार थी और 'चन्द्रकान्ता' पढने के लिए तो हजारो पाठकोने हिन्दी सीखी थी। फिर भी हम इन्हे श्रेष्ठ रचनाओ के अतर्गत नही मानते। पाठक पैदा करने की दृष्टि से इनका चाहे जो महत्त्व माना जाय, युग–चेतना और साहित्य दृष्टि से इनका विशेष मूल्य नही है।

पाठको मे लोकप्रिय बनने का प्रत्येक पुस्तक का अन्दाज अलग–अलग होता है। कोई अपने प्रकाशन के साथ ही तेजी यह पाठको मे लोकप्रिय बन जाती है तो कोई धीरे–धीरे पाठको पर अपना सिक्का जमाती है। हा, इतना अवश्य है कि जो अच्छी रचना होती है वह देर या सबेर अपने पाठको मे लोकप्रिय होकर ही रहती है। कभी–कभी अपनी इस लोकप्रियता के लिए रचना और रचनाकारो को पाठको से सघर्ष भी करना पडता है, किन्तु अन्तत अगर रचना मे दम है तो वह अपने पाठको की रूचियो को आकृष्ट करती ही है। किसी हद तक निराला को यह सघर्ष करना पडा था और सस्कृत साहित्य मे भवभूति को भी कुछ इसका आभास था और अपने समकालीन पाठक–समाज से वे सतुष्ट नही थे। इसी लिए उन्होने भविष्य के पाठक–समाज का स्मरण किया–"जो लोग मेरे काव्य का अनादर करते है, इसका कारण उन्हे ही मालूम होगा, उसके लिए मैने यह प्रयत्न भी नही किया है। समय का अन्त नही है। पृथ्वी का विस्तार भी कम नही है। इसमे जो कोई मेरा समानधर्मा है या कभी होगा उसके लिए यह नाट्य रचना रूप यत्न समझना चाहिए।" जाहिर है कि भवभूति के समकालीन पाठको ने उनकी रचना का समादर नही किया किन्तु बाद मे भवभूति एक उच्चकोटि के नाटककार माने गये।

वस्तुत समाजशास्त्री आलोचना मे लेखकीय अस्मिता या लेखक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का कोई स्थान नही है, जबकि मार्क्सवादी आलोचना भी अब लेखक के

स्वतत्र व्यक्तित्व को स्वीकार करने लगी है। वास्तव मे लेखक ही समस्त रचना—प्रक्रिया का सूत्रधार होता है अत 'प्रकाशक, आलोचक या पाठको क बीच अत सम्बन्ध—स्थापन का कार्य भी वही सम्पन्न कराता है। रचना का ससार बाहर से कुछ और भीतर से कुछ और होता है जिसे लेखक अपने ढग से सयोजित और प्रस्तुत करता है और इस प्रकार से वह वास्तविकता को कला मे रूपातरित करता चलता है। लेकिन समाजशास्त्रीय आलोचना उसके इस सूक्ष्म, विशिष्ट एव कलात्मक रूपान्तरण पर विशेष विचार नही करती और परिवेश एव सामाजिक क्रिया—कलापो के बाहरी रूपो के आधार पर ही वह इस कला और साहित्य का विश्लेषण करती है जो प्राय सतही बनकर रह जाता है।

अत साहित्य के समाजशास्त्र के पास कोई ऐतिहासिक दृष्टि भी नही है जिससे विभिन्न रचनाओ के युगीन परिवेश और उसकी विशिष्ट सास्कृतिक उपादेयता को समझा जा सके। यही कारण है कि आज साहित्य और जीवन के बीच की दूरी बढती जा रही है और यह अतराल दिनोदिन बडा होता जा रहा है। लेकिन साहित्य का समाजशास्त्र इससे कोई मतलब नही रखता। वह इस तरह के प्रयोजन मे उलझना नही चाहता। इस अर्थ मे वह प्रयोजनो से परे है— प्रयोजनातीत है। लेकिन वास्तव मे ऐसा है नही और पश्चिम मे भी अनेक विद्वानो ने साहित्य का कोई—न—कोई प्रयोजन स्वीकार किया है। कोजर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फक्शन आफ सोशल कान्फिलक्ट' मे लिखते है— "साहित्य, नाटक, खेल आदि समाज की सरचनाओ को अखण्ड बनाये रखने के लिए अत्यन्त कारगर है।"[1] स्पष्ट है कि कोजर महोदय का सकेत यहॉ साहित्य या कला के प्रयोजन की ओर ही है जब वे समाज की सरचना को बनाये रखने मे साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख करते है।

वस्तुत साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य को समझने मे हमारी मदद कर

---

1 साहित्य का समाजशस्त्र मे डॉ० बच्च सिह द्वारा उद्धृत— पृ० 7

सकता है– करता है, फिर भी वह मूल्याकन का कोई महत् प्रतिमान नही बन सकता क्योकि उसकी दृष्टि की अपनी कुछ सीमाएँ है और अपने कुछ आग्रह है जिसके कारण एक सीमित दायरे मे ही वह साहित्य–विश्लेषण मे प्रवृत्त होता है। जबकि साहित्य पर विचार करने के और भी दृष्टिकोण है। सभवत इसीलिए माल्कम ब्रेडबरी ने साहित्य एव समाजशास्त्र की अलग–अलग सत्ता स्वीकार की है और लिखा है–"सच्चाई यह है कि वस्तुत साहित्य और समाजशास्त्र दुनिया को देखने के अलग–अलग ढग है और यदि समाजशास्त्र एक ओर महत्त्वपूर्ण एव पूर्णरूपेण चरितार्थ कलाकृतियो मे अनुभव की सश्लिष्टता और पहचानने मे हमारी मदद करता है तो दूसरी ओर वह लम्बे दौर मे वैयक्तिक रचनाशीलता के हमारे बोध को नष्ट करने की ओर उन्मुख हो सकता है। इसलिए समीक्षा समीक्षाशास्त्र का लाभ तभी ले सकती है जबकि वह इस सम्बन्ध मे जागरूक रहे कि हर महत्त्वपूर्ण लेखक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक सभावनाओ को बदलकर और उनके सम्बन्ध मे हमे नये सिरे से चेताकर परिवेश को एक गहरे और वास्तविक अर्थ मे रूपातरित करती है। पर देखा यह गया है। कि "साहित्य का समाजशास्त्र" मे साहित्य का सर्जनात्मक साक्ष्य नष्ट हो जाता है।"[1]

इस प्रकार लेखक को वर्गीय स्थिति , आर्थिक स्तर, पेशा आदि की सीमाओ मे बॉधा नही जा सकता जबकि समाजशास्त्रीय आलोचना यही करती है और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अप्रासगिक बना देती है जबकि नव मार्क्सवादी आलोचक तक लेखक की स्वतन्त्र सत्ता मानने लगा है। अमेरिकी समाजशास्त्र की भॉति यह साहित्यक समाजशास्त्र भी मूल्यो से निरपेक्ष और मुक्त है। इसके पास ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है। इसीलिए आज कविता या साहित्य और समाज के बीच की दीर बढती जा रही है जो पहले कभी इतनी बढी नही थी। पूँजीवादी व्यवस्था मे न तो

---

1 डॉ० बच्चन सिह द्वारा उद्धृत– साहित्य का समाजशास्त्र – पृ० 8

कला के लिए कोई जगह है और न कलाकार के लिए। सिर्फ भौतिक जरूरतो की तरफ हम दौड रहे है ऐसे मे सत्साहित्य का सकटग्रस्त होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्य का समाज शास्त्र साहित्य की आलोचना को एक सीमा तक प्रभावित करता है और साहित्य को आत्मसात करने मे अहम भूमिका निभाता है।

चतुर्थ–अध्याय

आलोचनात्मक प्रतिमानों का विकास

आलोचनात्मक प्रतिमानों का विकास

नये काव्य प्रतिमानों की खोज :

साहित्य . सृजन एक रचनात्मक प्रक्रिया है लेखक–समाज को, मानव और उसके जीवन को, ऐसे ढग से प्रस्तुत करता है कि वह अर्थवान हो जाता है साहित्य किसी देश की मानव जाति और उसकी सास्कृतिक चेतना का प्रतीक है। ऐसी चेतना का प्रतीक जो प्रगति और परिवर्तन की वाहक है। अपने समय, परिवेश और जीवन के साहित्य का एक सश्लिष्ट सम्बन्ध होता है। वह मात्र व्यक्तिगत सत्य की खोज नही, सार्वजनिक सत्य की भी खोज है। समाज मे परिवर्तन आने के उपरान्त साहित्य मे समानान्तर परिवर्तन घटित होता है। लेकिन यह तभी होता है, जब कलाकार परिवर्तित सवेदनाओ आदि के पुराने रूप को नये रूप से अलग करके पहचानने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। साहित्य 'आत्म साक्षात्कार' और 'आत्मालोचन' का साधन होने के साथ–२ जन मानस को परिवतर्तित करने के लिए उत्प्रेरित करने, उसके सवेदनात्मक बोधात्मक स्तर को परिस्कृत करने और उसकी मुक्ति के लिए सघर्ष करने का कार्य भी किया करता है। क्रातिकारी कवि या लेखक केवल लेखन के क्षेत्र मे ही क्राति नही करता बल्कि वह सामाजिक क्राति मे भी सहायक होता है। लुसुन ने जोर देते हुए लिखा है – 'साहित्य का काम समाज की खिदमत करना और उसे बदल डालना भी है। इसी रूप मे लेखन भाषा द्वारा वस्तुस्थिति का पुन सृजन है।

साहित्य, कला, मनोरजन, 'सौन्दर्यानुभूति, 'रस प्राप्ति'–इनमे से किसी एक की सिद्धि के लिए नही है। रोमाटिक विचारधारा के लिये वह 'व्यक्तित्व का प्रतिफलन' हो सकता है। लेकिन नयी विचारधारा महज आत्मसत्य को कला नही मानती–कविता भावो का उन्मोचन नही है, भावो की मुक्ति है। वह व्यक्तित्व का प्रतिफलन नही वरन

व्यक्तित्व से पलायन है।[1]

दुसरे शब्दो मे–'कविता निजी व्यक्तित्व को महानतर व्यक्तित्व के लिये मिटाने की, निजी मन को सामुहिक मन मे रूपान्तरित करने की क्रिया है।[2] इसी अर्थ मे साहित्य मानव–जाति, उसके जीवन, उसके चितन और अनुभूतियो का इतिहास होता है। साहित्य की प्रकृति ही मानवतावादी है साहित्य रचना एक सास्कृतिक प्रयास है, जो परिवर्तन के हर नये दौर मे नये मानव मूल्यो को रूपायित तथा व्यवस्थित करता है। वह युगीन मानव को परिवर्तन की सीमाओ का एहसास कराने के साथ–साथ उसके ज्ञान और बोध को सवारता है।

साहित्य की प्रकृति के बदलाव के साथ–साथ आलोचना की प्रकृति का भी बदलाव कई स्तरो पर देखा जा सकता है। पहले आलोचक से 'सहृदयता' की माग जुडी थी, लेकिन आज का कवि, आलोचक से 'समझदारी' व 'इमानदारी' की माग करता है। आलोचना की प्रकृति के बदलाव को भाषा के स्तर पर भी देखा जा सकता है। परिवर्तन के सूचक कुछ शब्द जो इधर की समीक्षाओ मे धडल्ले से प्रयोग किये गये है–

जटिलता, अमूर्तन, प्रतीकन, अरूपीकरण, बौधिक सामान्यीकरण, आधुनिकता, समकालीनता, तात्कालिकता, सवेदनात्मक ज्ञान, ज्ञानात्मक सवेदना, मूल्य सत्ता, प्रतीक सत्ता, रचना–ससार, बड बोलापन, सरलीकरण, सतहीपन, भाव–कोण, सरचना, सघटना, अजनवीपन, कुठा, सत्रास, सह–अनुभूति, कर्त्तव्य–विम्ब, सपाट बायानी, तनाव, अर्न्तनिष्ठा, विसगति, विडम्बना आदि ऐसे शब्द है।

परिवर्तन प्रकृति का धर्म है अत मनुष्य के साथ–साथ समय–सापेक्ष हर वस्तु मे परिवर्तन होता रहता है युगीन परिवर्तन के साथ जीवन मूल्यो और क्रमश

---

1 टी०एस०इलियट– द सेक्रड–उड' लन्दन–1954 पृ०–58

2 त्रिशकू–अज्ञेय–पृ०–39

सृजनात्मक गतिविधियो मे भी बदलाव आता है। 'दृष्टि' 'बोध' और रूचि' ए तीनो काल सापेक्ष हो कर परिवर्तित होते रहते है। इनके बदलने से कविता बदलती है–और जब कविता बदलती है, तो उनके प्रतिमान भी बदल जाते है आलोचना के प्रतिमान कविता या रचना के आधार पर ही निश्चित होते है। लेकिन अपनी परम्परा से सशोधित और सस्कारित हो कर, क्योकि, कला–मूल्य एक विशेष मर्यादा के अन्तर्गत कलाकृति के भीतर ही होते है। किन्तु सौन्दर्य का वह अन्तरोद्भुत अन्तर्जनित निष्कर्ष निश्चित, नियमित और नियत्रित होता है।

वास्तव मे प्रतिमान आरोपित नही हो सकते, वे सृजनात्मक उपलब्धियो के आधार पर ही निश्चित होते है। हिन्दी आलोचना और उसका इतिहास इस बात की गवाही देते है कि हर युग अपने साथ नयी आलोचना–दृष्टि और नये मानदण्ड लाता है। छायावादी युगी की समीक्षा से ले कर आज की नयी समीक्षा तक प्रतिमानो के बदलने का क्रम सहज ही देखा जा सकता है। वस्तुत हर युग की सृजनात्मक गतिविधि और बदलते हुए सामाजिक सबन्धो, मूल्यो व विचारो के बीच द्वन्द होता है, यह पुराने और नये का सघर्ष है। इसमे नयी व्यवस्था की माग निहित है। इसका मतलब यह नही कि नई सृजनात्मक चेतना, प्राचीन का सपूर्णत विरोध करती है, बल्कि उसे अपने आप मे समेट कर चलती है। परम्परा और समकालीनता के तनाव से आलोचना को एक रचनात्मक उत्तेजना मिलती है। परम्परा को छोड देने पर समकालीन दृष्टि पगु हो जाती है। नयी दृष्टि, पुरानी दृष्टि की जाच करती है उसकी कमजोरियो को स्पष्ट करते हुए उनमे सशोधन करती है और यदि वह बिल्कुल अनुपयुक्त हुई तो उसे पूरी तरह से छोड देती है। साथ ही नयी दृष्टि विकसित करने की दिशा मे कार्य करती है।

नये प्रतिमानो और उनके आधार पर विकसित नयी आलोचनात्मक समझ केवल नयी कृतियो की ही समीक्षा नही होती बल्कि उनसे पुरानी कृतियो का भी नये सिरे से

ऑकलन और मूल्याकन होता है। इसे ही डा० देवी शकर अवस्थी ने 'आलोचना का दूसरा मुख्य दायित्व' कहा है।

नये प्रतिमानो का मतलब केवल नयी कविता से नही है बल्कि वे (प्रतिमान) 'कविता या रचना के समग्र स्मिथ' के लिये होते है। उनका महत्व भी इसी बात मे है कि वे पुरानी रचना पर भी लागू हो। नये प्रतिमान की खोज और उनकी प्रतिष्ठा का यह मतलब भी नही है कि पुराने सिद्धान्त काम के नही है। पुराने सिद्धान्तो मे भी जो नये युग के अनुकूल व लचीले होते है वे स्वीकार कर लिये जाते है। और जो युगानुरूप नही होते, समसामयिक कविता के मूल्यॉकन मे उनसे सहायता नही मिल पाती। 'न्यू अमेरिकन क्रिटिसिज्म' के समीक्षको ने पुराने सिद्धान्तो की पुनर्व्याख्या इस लिये की, कि वे लचीले थे और नये युग के अनुरूप उनमे सभावनाये थी। 'न्यू क्रिटिसिज्म' ने लाजाइनस और कालरिज से सीखा और 'सिकागोयन्स' ने अरस्तू से। हिन्दी मे भी रस सिद्धान्त, ध्वनि व वक्रोक्ति की पुनर्व्यख्या की जरूरत इस लिये पडी कि उसमे कुछ लचीलापन विद्यमान था।

किसी युग के रचनात्मक साहित्य का मूल्याकन, तत्कालीन साहित्यिक प्रतिमानो के ही आधार पर किया जा सकता है। क्योकि रचनात्मक समीक्षा, साहित्य की सृजनात्मकता से परिपूर्ण होती है समीक्षक किसी भी कविता मे निहित मूल्यो का आकलन समग्र कविता के परिप्रेक्ष मे करता है। महत्वपूर्ण कविता अपनी मूल्यवत्ता, अर्थवत्ता, और चित्रात्मकता का असर डालती है। एक तरह से उसी के प्रतिमान समीक्षा के प्रतिमान बन जाते है, लेकिन कभी–कभी कविता के रूप परिवर्तन के साथ–साथ उसकी पूरी सरचना मे बदलाव आ जाता है। फलस्वरूप उसका सदर्भ भी बदल जाता है। आलोचक उस सदर्भ को पकडकर ही उस कृति को ठीक से समझने मे सफल हो सकता है। इस कारण आलोचना के लिए समकालीन के साथ इतिहास का बोध भी आवश्यक है। इतिहास बोध के द्वारा ही किसी कविता के सदर्भ और गति

को समझा जा सकता है। यही नही किसी समकालीन कविता की मूल्यवत्ता का आकलन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे ही किया जा सकता है। डा० राम विलास शर्मा के शब्दो मे 'समाज के समान साहित्य भी गतिमूलक है और हम उसके प्रवाह को अगतिमूलक, जड अथवा अनैतिहासिक दृष्टिकोण से नही परख सकते।' डा० शर्मा के उक्त कथन को यदि हम कॉडवेल के शब्दो मे कहे तो–साहित्य के रूप और मुहावरे मे परिवर्तन का होना यह सूचित करता है कि सामाजिक परिवर्तन हो गया है, सामाजिक परिवर्तन के सदर्भ मे साहित्य के रूपो और मुहावरो मे हुए परिवर्तन की पहचान, समाजशास्त्री आलोचना की देन है।

डा० नामवर सिह ने 'कविता के नये प्रतिमान' के शुरू मे ही लिखा है–'यह जानी हुई कहानी है कि जब जब कविता बदलती है तो उसके प्रतिमान भी बदलते है पर यह नही कि नये–प्रतिमान अभी–अभी बनी हुई कविता के लिए ही होते है।' वस्तुत वही नया प्रतिमान सार्थक है जो नये को समझने के साथ–साथ पुराने को भी समझने की दृष्टि दे। उससे पुरानी कृतियो का भी नये सिरे से पुनर्मूल्याकन किया जा सके।

और अन्त मे यह सत्य है कि आलोचना न तो 'साइकोलाजी' है और न ही 'सोसियोलाजी' है वह न तो राजनीति है और न ही 'नीतिशास्त्र'। आलोचना के लिए जरूरी नही है कि वह रचनाकार का आत्मवृत्त जाने, लेकिन उसे उस युग सदर्भो और परिस्थितियो की जानकारी अवश्य होनी चाहिए। जिस व्यवस्था मे उस रचना ने जन्म लिया है केवल रूप तत्व की आलोचना कविता का समग्र आकलन तब तक नही कर सकती, जब तक विषय वस्तु के साथ उसका सतुलन न हो। इस प्रकार साहित्य और आलोचना के प्रतिमानो का विकास होता रहता है।

भारतीय समीक्षा शास्त्र का इतिहास तो बहुत प्राचीन है, उसकी गौरवमयी परम्परा के इतिहास मे सस्कृत साहित्य के तत्वान्वेषी मनीषियो का विशिष्ट योगदान

रहा है। कुप्पुस्वामी ने अपने ग्रन्थ– 'दहाइवेज एण्ड बाईवेज आफ क्रिटिसिज्म इन सस्कृत' मे ऋग्वेद के मत्रद्रष्टा को एक अनभिज्ञ समालोचक के रूप मे प्रतिष्ठित किया है[1] इसी प्रकार शकरन ने ऋग्वेद की एक ऋचा को उदघृत करके यह सिद्ध किया है कि उस काल मे मत्र दृष्टाओ को भी काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर भेदो का ज्ञान था। और उन्हे आभ्यन्तर की उत्कृष्टता भी मान्य थी।[2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत मे अति प्राचीन काल मे भी समीक्षा के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है।

रामायण के रचयिता आदि कवि वाल्मीकी की समीक्षात्मक दृष्टि अत्यन्त पैनी थी, उन्होने अपने ग्रन्थ 'रामायण के प्रथम श्लोक की समालोचना (आत्मालोचना) की है वस्तुत बाल्मीकि की आलोचना मे साहित्यशास्त्र का वह महान सिद्धान्त निहित है जो केवल पूर्वी ही नही अपितु पश्चिमी विद्वानो को भी अब स्वीकार है। आदि कवि के सत्य दर्शन को परवर्ती आचार्यो ने ध्वनि नाम से पुकारा है, उसी मे रस, अलकार आदि समाविष्ट हो जाते है, इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुभूति भाषा का रूप धारण कर काव्य रूप मे परिणत होती है।[3]

कवि की अनुभूति ही काव्य है। जब समाज का किसी घटना से कवि के मस्तिष्क मे तनाव होता है तो काव्य का निर्माण होता है। यह तनाव क्रौच पक्षी के आहत होने पर हो या किसी और कारण से।

सस्कृत काव्य शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा रही है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से भारतीय शास्त्र की निश्चित परम्परा का प्रारम्भ होता है इसके अतिरिक्त–काव्यालकार काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमासा, काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थो को इसी कोटि मे रखा

---

[1] हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास–पृ० ३८ से उद्घृत

[2] डा० भगवत स्वरूप मिश्र–हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास पृ०–39

[3] डा० भगवत स्वरूप मिश्र–हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास पृ०–40

जा सकता है। परन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास मे आलोचना का प्रारम्भ प्राय खडी बोली हिन्दी के विकास के साथ प्रारम्भ होता है जिसे हम भारतेन्दु युग के अन्तर्गत रख कर अध्ययन करते है।

(प्रारम्भिक दौर)

भारतेन्दु युग · आलोचना साहित्य की एक ऐसी विधा है, जो साहित्य के विकास और काव्य भाषा के निश्चित सम्बन्ध पूरा कर लेने के बाद ही विकसित होती है। हिन्दी आलोचना का पाश्चात् अर्थ मे प्रयुक्त समीक्षा की दृष्टि से इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनरायण चौधरी 'प्रेमधन' की समीक्षाओ से प्रारम्भ होता है। अपने आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास मे डा० बच्चन सिह ने बालकृष्ण भट्ट की समीक्षा को शुरूआत का श्रेय दिया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के कई इतिहासकार आलोचना के प्रारम्भ का श्रेय, 'प्रेमधन' को देते है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनरायण 'प्रेमधन' को समान रूप से हिन्दी समीक्षा की शुरूआत का श्रेय दिया है। उन दिनो आलोचना के स्थान पर परिचय और समालोचना शब्द का व्यवहार होता था। आचार्य शुक्ल के पूर्व 'सरस्वती' के प्रारम्भ मे समालोचना शब्द ही प्रचलित था।

डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास' मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'नाटक' नामक निबन्ध का उल्लेख हिन्दी आलोचना के विकास की दृष्टि से किया है। यद्यपि शुक्ल जी ने इसे 'आलोचना का प्रारम्भ नही माना है, परन्तु हिन्दी मे स्वय की दृष्टि से सोचा एव लिखा गया हिन्दी का पहला आलोचनात्मक निबन्ध अवश्य माना है।

आधुनिक काल की चेतना का निर्माण और परिष्कार नवजागरण की प्रबल

शक्तियो ने किया। नये विचारो के प्रकाश ने रीतिवादी रूढिवादी प्रवृत्तियो से समझौता नही किया। रचनाकार और पाठक की बदलती रूचियो, सस्कारो ने नये ज्ञानविज्ञान के बोध से अपने को भीतर—बाहर से सस्कारित किया। दरबारी रूचियो को पीछे ढकेलकर लोकतन्त्रीकरण की समाज चेतना विकसित हो उठी। इस चेतना ने रचना और आलोचना दोनो को बदलने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। विचारो की उमडती शक्ति ने गद्य विधाओ को जन्म दिया। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कहानी आदि रचना विधाओ ने आलोचना को जन्म देने मे मदद की। गद्य की नयी विधाओ के सामने आते ही, पुरानी आलोचना दृष्टि अपर्यापत दिखाई देने लगी।

भारतेन्दु काल मे पत्र पत्रिकाओ का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन पत्र पत्रिकाओ के भीतर छपने वाले भारतेन्दु के लेख 'नाटक' (1883 ई०) काशो नागरी प्रचारिणी पत्रिका (1897), हिन्दी प्रदीप (1877), ब्राहमण (1883), आनन्द कादम्बिनी (1818) आदि के प्रकाशन के साथ आलोचना का विकास भी प्रारम्भ हुआ।

लाला श्री निवास दास के 'सयोगिता स्वयवर' की एक सच्ची समालोचना प० बालकृष्ण भट्ट जी ने हिन्दी प्रदीप मे प्रकाशित की। सयोगबस इसी समय चौधरी बद्रीनरायण 'प्रेमधन' जी ने 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका मे इसी नाटक की आलोचना लिख डाली।

इन दोनो समीक्षाओ की आलोचनात्मक दृष्टि गुण—दोष निरूपण की थी। इन्ही पत्र—पत्रिकाओ के प्राचीन एव नवीन सृजन पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गये थे। जिससे आलोचना का विकास प्रारम्भ हो सका।

आलोचना—प्रकृति मे नयेपन का सकेत तो मिलने लगा, किन्तु उसका स्वरूप प्राय रूढिगत (कन्वेशनल) ही रहा इस पद्धति के चरम रूप का दर्शन मिश्र—बन्धुओ के हिन्दी नवरत्न (1910 ई०) मे दृष्टिगत हुआ। इसी नीव पर तुलनात्मक आलोचना

का प्रारम्भ प्राय गुणदोष या उत्कृष्ट, निकृष्ट के मानदण्डो के साथ प्रारम्भ हुआ। और प० पद्म सिह शर्मा, प० कृष्ण बिहारी मिश्र लाला भगवान दीन, जैसे आलोचक सामने आये।

(ii) द्विवेदी युगीन आलोचना काव्यशास्त्र के लक्ष्य–लक्षण ग्रन्थो मे निहित साहित्य–चितन का उपयोग प्राय द्विवेदी युग मे ही प्रारम्भ हुआ। इस दृष्टि से प्राय भारतेन्दु युग के बाद आने वाले युग को 'पुनरूत्थान वादी' युग की सज्ञा दी जाती है। सभवत रीति–कालीन मान–मूल्यो की प्रतिक्रिया की ही देन थी कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी रीति–परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षधर के रूप मे इस युग की आलोचना के स्तम्भ बने।

'हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल के अन्तर्गत तृतीय उत्थान को आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है अध्याय के प्रारम्भ मे ही उन्होने इस उत्थान की आलोचना को मनोवृत्तियो की छानबीन करने वाली आलोचना भी कहा है। इस दृष्टि से पहले और दूसरे उत्थान की आलोचना को परिचयात्मक और गुण–दोष निरूपण वाली आलोचना कहा है। आ० शुक्ल के अनुसार तृतीय उत्थान के पूर्व हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे जो भी कार्य किया गया वह गुण दोष निरूपण और कवि–वृत्त परिचय से अधिक कुछ नही था। वस्तुत शुक्ल युगीन आलोचना से पहले हिन्दी आलोचना मे देव, बिहारी, मतिराम के गुणो की प्रसशा या किसी एक कवि की निन्दा का भाव प्रमुख था।

मिश्र बन्धुओ द्वारा 'हिन्दी नवरत्न' मे देव को सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया। जिसकी समीक्षा करते समय महवीर प्रसाद द्विवेदी जी ने हरिश्चन्द्र और देव की तुलना मे देव को महत्वपूर्ण बताये जाने का विरोध किया।

शुक्ल जी के लेख से पूर्व ही लाला भगवान दीन जो मध्यकालीन साहित्य का

सचालन कर रहे थे, उन्होने देव तथा बिहारी की तुलना करके, दोनो के गुणो व दोषो को काव्य शास्त्र के आधार पर उल्लेख करते हुए देव को बिहारी से श्रेष्ठ कवि कहा। इसी समय कृष्ण शकर शुक्ल जिनका उल्लेख राम चन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतहास' मे किया है और जो माधुरी पत्रिका के सपादन से जुडे थे, ने काव्य भाष के आधार पर मतिराम को देव व बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध किया। यही कारण है कि इस काल की आलोचना को गुण–दोष निरूपण वाली आलोचना कहा गया।

तृतीय उथान मे हिन्दी आलोचना का जिस रूप मे विकास हुआ, वह निश्चय ही महत्वपूर्ण है क्योकि इस काल के प्रारम्भ मे परम्परागत सिद्धान्तो के प्रति विद्रोह का भाव पाया जाता है। स्वय शुक्ल जी ने 'कविता क्या है' नामक जो निबन्ध लिखा, वह महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'कवि और कविता' नामक निबन्ध की प्रतिक्रिया स्वरूप ही लिखा गया था। इसने हिन्दी आलोचना को इस दृष्टि से सवृद्ध बनाया कि इसमे पहली बार बौद्धिक स्तर पर सटीक व तर्कपूर्ण भाषा के आधार पर कविता और मनुष्य की परिस्थितियो तथा समाज मे आपसी सम्बन्धो की व्याख्या की गयी। व्याख्या और निर्णय को समान रूप से लागू किया गया।

शुक्ल जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे द्वितीय उत्थान के अन्त मे 1918 से पहले की आलोचना को रूढिवादी कहा है। और तीसरे उत्थान के प्रारम्भ मे शुक्ल जी विलायती तख्तियो के प्रयोग मे वृद्धि का उल्लेख करते है। लेकिन तृतीय उत्थान के पहले हिन्दी आलोचना की वह नीव अवश्य पड गयी थी जिस पर शुक्ल जी ने अपनी इमारत खडी की, जो हिन्दी भाषा और साहित्य की अपने गारे मिट्टी और ईटो से निर्मित है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास मे डा० वच्चन सिह ने आ० रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व की समालोचना को नैतिकतावादी, रीतिवादी आलोचना कहा है। वस्तुत नैतिकता साहित्येत्तर मानदण्ड है। नैतिकतावादी मानदण्ड महावीर प्रसाद द्विवेदी मे भी

विद्यमान था। मिश्र बन्धुओ, लाला भगवान दीन, पदमसिह शर्मा की नयी समालाचना पद्धति नैतिकतावादी कम, रीतिवादी अधिक है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'कविता का विषय मनोरजक एव आदर्श जनक होना चाहिए उन्होने अपनी आलोचना से परम्परागत नैतिकता को काव्य के लिये आवश्यक बताया। उनकी आलोचना की विशेषता नैतिकता के साथ लोक मगल की खोज है। नैतिकतावादी दृष्टि स्वय अपने मे लोक मगल को समाहित करके चलती है।

द्विवेदी जी ने 'हिन्दी नवरत्न' पर समालोचना लिखते समय मिश्र बन्धुओ के केवल भाषा दोषो की ही गणना नही की बल्कि लोकमगल व समग्र मानवीय दृष्टि से विश्लेषण के साथ देव, विहारी की तुलना मे सूर तुलसी को प्रतिष्ठित किया। इसी लिये कहा जा सकता है कि शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के मार्ग पर विकसित हुई।

हिन्दी आलोचना का विकास निर्धारित करते समय यह बात महत्वपूर्ण है कि शुक्लजी ने 'आलोचना' तथा 'आलोचना सबन्धी लेख' मे अन्तर किया है। आलोचनात्मक लेखो की तुलना मे किसी पुस्तक पर लिखी गयी आलोचना को अधिक महत्वपूर्ण माना है जिस प्रकार द्विवेदी जी ने 'मेघदूत' को प्रारम्भ मे नैतिकतावादी दृष्टि से महत्वपूर्ण नही माना परन्तु काव्य की दृष्टि से 'मेघदूत' की प्रसशा की। इस दृष्टि से महावीर प्रसाद द्विवेदी को वह सेतु मानना होगा, जिससे गुजर कर हिन्दी आलोचना मे महत्वपूर्ण मोड आया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना का आधार एक ओर जहॉ भारतीय काव्यशास्त्र के लोकवादी चितन मे है वही दूसरी ओर पश्चिम के उन विचारको मे भी खोजा जा सकता है, जिन्होने अपने समय मे विज्ञान दर्शन, आदि तत्वो की समायोजन

करते हुए पश्चिमी आलोचना को गति दी।

रसमीमासा मे दोनो पद्धतियो का समेकन देखा जा सकता है। कोष्ठको के बीच पूरी पुस्तक मे अग्रेजी के वाक्य भरे पडे है। यही नही अपने प्रसिद्ध आलोचनात्मक लेखो मे उन्होने क्रोचे और आई०ए० रिचर्ड्स का विशेष उल्लेख किया है। यद्यपि इन दोनो आलोचको के मतो से उनकी सहमति नही है। शुक्ल जी के अन्य निबन्धो मे भी जिनका सीधा सम्बन्ध आलोचना से नही है जैसे– 'श्रद्धा–भक्ति', 'उत्साह', क्रोध' 'भाव या मनोविकार', 'लोभ और प्रीति', मे वे बराबर कर्म सौन्दर्य की चर्चा करते है। श्रद्धा और भक्ति मे जहॉ वे श्रद्धा और प्रेम के सामजस्य को भक्ति कहते है वही श्रद्धा को सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते है। और वहॉ भी 'रामचरित मानस' के राम का उदाहरण प्रस्तुत करते है।

लोक मगल की साधनाव्यवस्था तथा लोक मगल की सिद्धावस्था मे से शुक्ल जी लोक मगल की साधनावस्था को काव्य का प्रमुख मानदण्ड मानते है। ऐसा नायक और चरित्र जो लोक मगल का साधन बने, उनकी दृष्टि से महत्वपूर्ण काव्य और चरित्र है।

हिन्दी आलोचना की दृष्टि से शुक्ल जी पहले आलोचक है जिन्होने 'प्रत्यक्ष रूप विधान' और 'स्मृति रूप विधान' का विश्लेषण करते हुए– 'स्मृति रूप विधान' को महतवपूर्ण माना है। कविता के अर्थ ग्रहण को उन्होने सबसे पहले विम्ब के माध्यम से स्वीकार किया है।

शुक्ल जी का प्रसिद्ध सिद्धान्त है 'साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।' रससूत्र की व्याख्या मे उन्होने आलम्बनत्व धर्म को महत्व दिया है। यह दृष्टि सामाजिक दृष्टि है, अर्थात् राम कभी रसानुभूति के विषय नही बनते बल्कि आतातायी रावण को लोक मगल की दृष्टि से समाप्त करने का जो राम का धर्म है वह रस निष्पत्ति का कारण है। यह दृष्टिकोण निश्चय ही प्रबन्ध काव्यात्मक है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे शुक्ल जी ने सिद्ध, नाथ, जैन तथा कबीरदास की रचनाओ को इस लिये महत्व नही दिया है कि उनकी कविताओ मे वह समग्रता नही है जिसमे अर्थ ग्रहण के योग्य विम्ब विधान का निर्माण हो सके इस लिये धर्म अध्यात्म आदि को वे साहित्य के बाहर की वस्तु मानते है।

लोक जीवन उनकी आलोचना का स्रोत था, और लोक जीवन के दृश्यो का रूप विधान शुक्ल जी को बहुत प्रिय था। इसी लिये 'नागमती का विरह वर्णन' तथा सूरसागर का वात्सल्य वर्णन उन्हे ससार मे अद्वितीय लगा था।

वे छायावाद के आलोचक थे, लेकिन उन्होने उसके लाक्षणिकता और चित्रकल्पना को न केवल रेखाकित किया बल्कि काव्य की दृष्टि से उसे महत्वपूर्ण माना। परन्तु अपने प्रमुख सिद्धान्त लोकमगल के आधार पर उन्होने छायावाद की वायवियता तथा रहस्यात्मकता की निदा की और इसे पश्चिम से प्रभावित माना। भारतीय सस्कृति तथा जीवन शैली के अनुकूल दृष्टिकोण का विकास उन्हे प्रिय था।

हिन्दी मे काव्य भाषा के विकास पर उन्होने पहली बार न केवल व्यवस्थित विचार किया है बल्कि भाषा और सवेदना के रास्ते को उनसे अधिक अज्ञेय जी को छोडकर किसी ने भी नही समझा है। 'बुद्ध चरित्र' की भूमिका मे शुक्ल जी ने अवधी और ब्रज भाषा का भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भिन्न विवेचन किया है और इस कवि सिद्ध भाषा का प्रयोग उन्होने 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका' मे भी किया है।

शुक्ल जी मूलत व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना के प्रसशक है। उन्होने अपने समय तक विकसित आलोचना को ध्यान मे रखकर चार आलोचना पद्धतियो का वर्णन किया है जो निम्न है।

1 व्याख्यात्मक
2 निर्णयात्मक
3 सैद्धान्तिक
4 ऐतिहासिक

शुक्ल जी ने मूल रूप में व्याख्या और मूल्यांकन दोनों का उपयोग किया है। यही कारण है कि उनकी आलोचना में दोनों पद्धतियाँ मिलकर विकसित हुई हैं।

डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि वे अप्टूडेट नहीं रह गये हैं। क्योंकि उन्होंने रसवाद का जो आधार ग्रहण किया, वह कथा साहित्य पर लागू नहीं होता। परन्तु डा० देवराज ने शुक्ल को साहित्य के संदर्भ में सदैव अप्टूडेट मानते हुये यह कहा है कि– "उन्होंने व्यवस्थित सिद्धान्त का निर्माण तो नहीं किया, वरन् उनके समान रस ग्राही दृष्टि का आलोचक संसार में नहीं मिलेगा।"

शुक्ल जी की दूसरी विशेषता जो आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने उनकी आलोचना में पायी है वह मुख्यतः शुक्ल जी की अपनी मर्यादावादी तथा लोकोन्मुखी दृष्टि के कारण ये मानते हैं कि वात्त्यार्थ में ही काव्य संभव है। लक्ष्यार्थ या व्यंगार्थ में नहीं।

डा० नगेन्द्र का कथन है कि शुक्ल जी का यह मत कई दृष्टियों से गलत है, और यह गलती प्रबन्धात्मक दृष्टि के कारण हुई है। रस मीमांसा में वे विषयों के चयन को महत्व देते हैं और यह मानते हैं कि सभी विषयों पर काव्य संभव नहीं है।

द्विवेदी युगीन यह दृष्टि छायावादी युग में अमान्य हो गयी। इस लिए आचार्य नन्दुलारे वाजपेयी इस सम्बन्ध में शुक्ल जी की सीमा का संकेत करते हैं क्योंकि कविता का समग्र दृष्टि में कुछ भी विषय हो सकता है और यह भी स्थापना करते हैं कि 'ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है।' तथा विभावना व्यापार की आवश्यकता पर बल भी देते हैं यह विभावना व्यापार जहां एक ओर रस सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है वहीं दूसरी ओर टी०एस० इलियट के आब्जेक्टिव को रिलेटिव के अर्थ में भी अपने में समेटे हुए है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उसका प्रमुख महत्व इस बात में हैं कि उन्होंने

गुण–निन्दा मूलक प्रभाववादी आलोचना के स्थान पर अनुभव मूलक इहलोकिक आलोचना का प्रचलन किया। उन्होने हिन्दी भाषा को वह बौद्धिक क्षमता प्रदान की जिससे वह आलोचना के योग्य हो सके। यह कार्य उन्होने अपनी आलाचन तथा निबन्धो के माध्यम से किया। यह बात अवश्य है कि उनकी आलोचना अधिकाशत काव्य पर आधारित है।

गद्य साहित्य पर उनकी आलोचना पद्धति का प्रयोग बहुत अधिक सफल नही हो सका लेकिन आलोचना मात्र की जो शैली शुक्ल जी ने निर्धारित की वह तत्वाभिनिवेशी और विश्लेषणपरक है।

शुक्ल जी के बाद हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे अनेक सिद्धान्तो को प्रयुक्त करने वाले आलोचक काफी बडी सख्या मे सक्रिय हुए, और उनका प्रभाव यह पडा कि आलोचना पुन शुक्ल जी से पीछे मुडकर नही देख सकी। किसी भी आलोचक की विशेषता इसमे नही होती है कि वह रचना को श्रेणियो मे बॉटे, बल्कि इसमे होती है कि वह पाठक को रचना के मर्म तक पहुॅचाये। शुक्ल जी इस दृष्टि से सक्षम है। उन्होने पद्मावत तथा राम चरितमानस के मर्म को लोगो तक पहुॅचाकर पाठक का मानसिक सस्कार किया है, कुछ विद्वान उन्हे अग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक डा० जानसन के समान ऐतिहासिक व्यक्ति मानते है। इस उपमा को यदि महत्व न भी दिया जाय तो भी यही कहा जा सकता है कि विद्वता और अनुभवशीलता का जो योग शुक्ल जी मे है वह हिन्दी के बहुत कम परवर्ती समीक्षको मे है। छायावादी दौर–छायावादी समीक्षा का प्रारम्भ 'नीतिवाद के विरूद्ध कलावादी प्रतिक्रिया' के रूप मे हुआ। इसके पीछे स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकार्य कर रही थी। इसमे काव्यात्मक–भावसवेदनो को छायावादी समीक्षा मे प्राथमिकता दी गयी। 'पल्लव' व परिमल' जिसमे परिवर्तित 'काव्य वस्तु', 'काव्य–भाषा और 'काव्य सगीत' पर जम कर विचार किया गया है, इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती है कि, छायावादी समीक्षको

की रचनात्मक और आलोचनात्मक दष्टिकोण पहले से काफी बदला हुआ था। समीक्षको ने बौखलाहट के बजाय काफी सतुलित दृष्टि से काम लिया। एक ओर वो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बुद्धिवादी, नैतिक और आदर्शवादी मान्यताओ से असहमति प्रकट की, वही दूसरी ओर रूढ्विवादी काव्य सस्कारो से मुक्त हो कर परम्परा से ग्राह्य सिद्धान्तो का विशदीकरण किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसाद, निराला, पत तीनो कवि चितको का आधुनिक हिन्दी समीक्षा को प्रौढतर बनाने मे महत्वपूर्ण योग रहा। इस काल के समीक्षको न काव्य के विषय वस्तु और कवि की वैयक्तिक भाव चेतना, दोनो को उचित महत्व दिया। छायावादी समीक्षा की दो उपलब्धियॉ है–

1 साहित्य की प्रकृति को मानव जीवन की प्रकृति के समान व्यापक और बहुमुखी बनाना।

2 काव्य तत्वो और उपकरणो की सुक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओ की खोज करना श्यामसुन्दर दास ने जिस समन्वयवादी समीक्षा की नीव डाली थी, उसका विकास इन समीक्षको मे स्पष्ट दिखाई देता है।

छायावादी आलोचको ने काव्यानुभूति, सौन्दर्यबोध और काव्यभाषा जैसे महत्वपूर्ण तत्वो को आलोचना का विषय बनाया। इन्होने ऐतिहासिक और परिवर्तनशील परिस्थितियो के अध्ययन द्वारा रचनाकार के विशिष्ट काव्य मूल्य को प्रतिष्ठित किया। इन आलोचको मे उनकी अपनी अभिरूचियो, सस्कारो, अनुभवो, और दृष्टिकोणो के स्तर पर विभिन्नता भी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये जयशकर प्रसाद पन्त और निराला का काव्य चितन देखा और परखा जा सकता है।

छायावादी कवियो मे प्रसाद जी का कार्य चितन सबद्ध और साफ सुथरा है। प्रसाद जी की आलोचना बुद्धिविश्लेषण प्रधान तथा कल्पना सश्लेषण प्रधान होती चली

गयी है। प्रसाद जी मूलत अन्तर्ममुखी–व्यक्तित्व के विचारक थे। उनकी अन्तर्मुखता इतनी गहरी थी कि वे अपने अन्तर्जगत मे उपस्थित भावो को उनके भेद व अभेद को रूपो व गुणो को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। इसी लिये वे समष्टि चित्रो द्वारा उन्हे सष्लेषित रूप मे अथवा उपमा विधान, प्रतीक विधान द्वारा विश्लेषित रूप मे अकित कर सकते थे। प्रसाद जी ने छायावाद के सम्बन्ध मे फैले कई भ्रमो का निराकरण किया और साथ ही भारतीयता एव कलावाद के सबन्ध मे फैली कई भ्रान्तियो का निराकरण की किया। उन्होने छायावाद को यथार्थवाद के समानान्तर प्रतिष्ठित किया। यथार्थवाद के सबन्ध मे दी गयी उनकी परिभाषा आज भी प्रासगिक प्रतीत होती है। यथार्थवाद की एक विशेषता लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात के साथ छायावाद का आन्तरिक सबन्ध दर्शाते हुए उन्होने अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के विकास की सूचना दी। व्यवहारिक आलोचना के क्षेत्र मे प्रसाद जी का योगदान प्राय नगण्य ही रहा है, किन्तु छायावाद की आलोचना की दिशा मे उन्होने जो सहयोग दिया, वह निश्चय ही मूल्यवान है। प्रसाद जी ने सौन्दर्य आत्मानुभूति और काव्य भाषा का सूक्ष्म और महत्वपूर्ण विवेचन किया। रस सिद्धान्त की विशदीकरण मे भी उनके विचार–सूत्र काफी प्रसशनीय है।

पत जी की आलोचना अत्यन्त परिष्कृत रूचि की है, 'पल्लव की भूमिका' ने तत्कालीन समीक्षा के सदर्भ मे महत्वपूर्ण स्थापनाये प्रस्तुत की। उन्होने ब्रज काव्य के मूल्याकन का सतुलित मान उपस्थित किया है, पल्लव की भूमिका के काव्य प्रवृत्ति, भाषा, शिल्प, शब्द चयन विषयक कुछ सूत्र आज भी काम के है। निराला ने काव्यभाषा और शिल्प रचना के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये है। उन्होने 'पत और पल्लव' मे पत की मान्यताओ पर नये सिरे से विचार किया। परिमल की भूमिका मे कवित्त छद तथा उसकी लय पर आधारित मुक्त छन्द के सगीत की जातीयता पर हिन्दी मे पहलीबार जमकर विचार किया गया है। डा० राम विलास शर्मा का कथन है

कि 'निराला जी ने अपनी आलोचनाओ मे नये–पुराने का सतुलन किया है। बिहारी और महाकवि रविन्द्र नाथ ठाकुर पर तुलनात्मक लेख लिख कर और तुलसीदास के दर्शन पर विशेष रूप से प्रकाश डाल कर उन्होने छयावादी आलोचना को एकांगी होने से बचा लिया है। छायावादी परम्परा को अपनी रचनाओ मे समटन क लिये प्रसिद्ध, महादेवी वर्मा ने की 'चित्रकला', और 'वर्णगीत' के सदर्भ मे कविता पर विचार किया है।

परिणामत ऐतिहासिक दृष्टि से सोचा जाय तो हिन्दी आलोचना को सस्कृत काव्य शास्त्र और रीतिवादी रूढियो से अलग कुछ दे पाने का कार्य छायावादी आलोचको ने किया।

इसी छायावादी युग मे एक प्रौढ समीक्षक के रूप मे आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का आगमन हुआ, यद्यपि बाजपेयी जी आचार्य शुक्ल की ही परम्परा के आलोचक थे, लेकिन आचार्य शुक्ल द्वारा उपेक्षित आधुनिक साहित्य की उन्होने जिस सफलता के साथ मर्मग्राहिणी आलोचना प्रस्तुत की वह सराहनीय है। उन्होने छायावादी काव्य का विश्लेषण करके उसे ग्राह्य बनाया। छायावादी काव्य प्रतिमानो के धरातल पर विकसित उनकी काव्य दृष्टि मे समझ की गहरी बुनियाद मिलती है वे काव्य मे रस के विस्तार एव समाजवादी मूल्यो को तरजीह देते थे। कुछ विद्वान उन्हे 'सान्दर्यवादी' या सौष्ठववादी' की सज्ञा देते है। छायावादी वैयक्तिकता और अन्तर्मुखता को वे अधिक से अधिक सामाजिक और बहिर्मुख बनाने के पक्षपाती थे। इस विषय मे उनकी धारणा थी कि समस्त काव्य प्रक्रिया का साधारणीकरण होता है। उनकी समीक्षा के प्रतिमानो के रूप मे दो प्रमुख तत्वो 'भावात्मक निष्पत्ति' एव 'रूपात्मक सौन्दर्य' को लिया जा सकता है।

एक स्वतन्त्र समीक्षक की हैसियत से छायावादी ऐतिहासिक पुर्नमूल्याकन का कार्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने किया। द्विवेदी जी ने कविता को उसके

व्यापक सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य मे देखा और समझा है। वे वस्तुत एतिहासिक पद्धति के समीक्षक है। 'तेन' के सुत्रो से प्रभावित हो कर वे भी काव्य समीक्षा क क्षेत्र म निम्न वस्तुओ की जानकारी आवश्यक मानते है। यथा–कवि किसकाल मे उत्पन्न हुआ? उसके पूर्ववर्ती तथा समसामयिक अन्य कौन कौन से कवि थे और उनस उनका कोई सम्बन्ध था या नही? इस प्रश्न–श्रृखला को डा० बच्चन सिह ने क्रमागत सामाजिक सास्कृतिक और जातीय सातत्य' कहा है। जिसके बीच वे किसी कवि का स्थान निर्धारित करते है। आचार्य द्विवेदी को 'मानवतावादी दृष्टि का समीक्षक कहा गया है। उन्होने मानवतावाद के दो लक्षण माने है।

1 मनुष्य की महिमा व मानवीय मूल्यो मे विश्वास।

2 मनुष्य के इस मर्त्य–जीवन को किसी प्रकार के पापफल भोगने का परिणाम न समझकर, इसे इसी दुनिया मे दु ख शोक से बचाना और सुख सवृद्धि युक्त बनाना वस्तुत उनके इस मानवतावाद को आदर्शवादी रोमैन्टिक मानवतावाद कहना ज्यादा ठीक होगा, और इस दृष्टि से किसी कविता की सफल समीक्षा नही हो सकती। द्विवेदीजी ने अपना हर एक वक्तव्य गहरे अध्ययन, चितन, मनन व साक्षात्कार के बाद दिया है। उदाहरण के लिये सूर और कबीर पर की गयी उनकी आलोचनाये देखी जा सकती है। यही नही आचार्य द्विवेदी आदिकालीन साहित्य के उद्धारक भी है। वे वस्तुत विचारो के समीक्षक है। उनका मूल्य इस बात मे निहित है कि उन्होने ऐतिहासिक काव्यो से पुनरूद्धार और पुनर्मूल्याकन द्वारा हिन्दी साहित्य और उसकी समीक्षा को गति प्रदान की है।

मनोविश्लेषणात्मक आलोचना क्रमश फ्रायड जुग एडलर से प्रभावित होने के कारण अपनी विकास यात्रा मे अत्यधिक सफल नही हुई, फिर की आलोचनात्मक समझ विकसित करने के कारण इसके महत्व को कमतर नही आका जा सकता है।

पाश्चात् समीक्षाशास्त्र मे इस बात पर विशेष विचार किया गया है कि रचना करते समय रचनाकार की मनस्थिति कैसी होती है। और उसे सृजन की मूल प्ररणा कहॉ से मिलती है? इसी विचारधारा की देन है अन्तर्वादी समीक्षा। इस समीक्षा पद्धति की सबसे बडी खामी यह है कि वह रचना को अपनी समीक्षा का केन्द्र न बनाकर, रचनाकार को ही अपने अध्ययन का विषय बनाती है। इस पद्धति से प्रभावित समीक्षक प्राय डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, आचार्य नलीन विलोचन शर्मा आदि है।

डा० नगेन्द्र फ्रायड व जुगीय मनोविज्ञान से गहरे रूप से प्रभावित है परन्तु फ्रायड के दर्शन को वे एकागी मानते है। उनके लिये फ्रायड की बहुत सी उपपत्तिया दूरारूढ और अविश्वसनीय है। नगेन्द्र जी की दृष्टि मे 'काम' (लिविडो) जीवन का प्रमुख अग तो है किन्तु सर्वांग नही। उनके लिए फ्रायड का जीवन दर्शन साधन है। साध्य नही। साधन इस लिये है कि फ्रायडीय मनोदृष्टि भी 'आनन्दवादी' एव 'रसवादी' जीवन मूल्यो पर आधारित है। तथा मनोविश्लेषण एव अन्य पश्चिमी साहित्य अवधाणाओ ने उनकी रस दृष्टि को और अधिक स्थिरता प्रदान की है।

डा० नगेन्द्र ने फ्रायड के 'अचेतन–चेतन' के लिये आत्म और अनात्म की शब्दावली का प्रयोग किया है।[1] उनकी दृष्टि मे अचेतन अथवा 'अनात्म' मे पूजीभूत काम कुठाओ के लिए 'चेतन' अथवा 'आत्म' द्वारा पवित्रता एव नित्यता प्रदान की जाती है यही नही फ्रायड के अनुरूप ही वे काव्य की मूल प्रेरणा काम (लिविडो) को ही मानते है। उनके अनुसार–हमारे व्यक्तित्व मे होने वाले सघर्ष मूलतया काममय है और चूॅकि ललित साहित्य तो मूलत रसात्मक होता है, अत उनकी प्रेरणा मे कामवृत्ति की प्रमुखता असदिग्ध है।[2] उनकी दृष्टि मे "मानव के सौन्दर्य–प्रेम का उनकी काम वृत्ति से और हमारी सौन्दर्य भावना का हमारी प्रीति से सहज सम्बन्ध है।"

---

1 डा० कृष्ण वल्लभ जोशी नव्य हिन्दी–समीक्षा पृ–० 169

2 डा० नगेन्द्र– विचार और अनुभूति – पृ०– 10

काम जीवन की प्रधान कृति है। और स्वस्थ रूप मे, काम का उपभोग न करके जब उसको चितन मे परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है। लेकिन अस्वस्थ रूप मे काम अमुक्त रहकर साहित्य के मूलवर्ती भावचित्रो की सृष्टि करता है।[1]

डा० नगेन्द्र आत्माभिव्यक्ति को कविता मानते है। उनकी दृष्टि मे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही साहित्य है। तथा व्यक्तित्व का निर्माण जिन प्रवृत्तियो से हेता है उनमे कामवृत्ति का प्राधान्य है।[2] श्री नगेन्द्र जी मानसिक कुठा को काव्य का प्रेरक तत्व बताते हुए लिखते है कि– "यह कुठा जितनी ही विवसता जन्य अर्थात व्यक्तिगत परिस्थिति के प्रतिकूल होगी उतनी ही अधिक मन मे घुमडन पैदा होगी, और फिर यह घुमडन उतने ही अधिक दिवास्वप्नो की सृष्टि करेगी[3]"।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि डॉ० नगेन्द्र ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा मे कही–कही आवश्यकता से अधिक मनोविश्लेषण का सहारा लिया है। यही कारण है कि कुछ समीक्षको ने आपको पूर्णत फ्रायडवादी का फतवा दे दिया है। उदाहरण के लिए 'तुलसी और नारी' नामक अपने निबन्ध मे उन्होने लिखा है– "मनोविश्लेषण शास्त्र इस मनोवृत्ति के कुछ और भी कारक उपस्थित करता हे। इस कटुता का स्पष्ट कारण तो तुलसी के जीवन की उस घटना मे ही ढूँढा जा सकता है जिसमे उन्हे राम भक्ति की ओर प्रेरित किया था। इसी के द्वारा उनका उत्कृष्ट पार्थिव प्रेम उतने ही उत्कृष्ट अपार्थिव प्रेम मे उन्नयित हो गया था। अपने भाव का उन्नयन तो तुलसी ने साधना से कर लिया, परन्तु चूँकी यह परिवर्तन सहज एव क्रमिक पक्रिया के द्वारा न हो कर एक झटके के साथ हुआ था, इस लिए ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थि उनके मन मे रह गयी और आत्मग्लानि जीवन भर न तो अपने आतुर मन

---

1 डा० नगेन्द्र – विचार और अनुभूति – पृ०– 8
2 डा० नगेन्द्र – विचार और अनुभूति – पृ०– 10
3 आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य– पृ०– 331

को क्षमा कर सकी और न आतुर मन का आलम्बन अथवा वाह्य प्रतीक नारी को ही।[1]

डा० नगेन्द्र जी द्वारा फ्रायड के सिद्धान्त को हिन्दी साहित्य के सर्वश्रष्ठ कवि तुलसीदास पर घटित करना इस सिद्धान्त की बहुव्याप्ति है। क्योकि हृदय बृद्धि से परिष्कृत पूर्णत आत्मवादी सतकवियो की नारी विषयक मान्यताओ का समाधान फ्रायड मे नही खोजा जा सकता। इस लिए तुलसी प्रणीत नारी निदा विषयक धारणा की मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुरूप प्रमाणित करने के लिए डा० नगेन्द्र द्वारा दिया गया यह तर्क अद्विद्ध एव भ्रान्तिपूर्ण है। क्योकि भावोन्नयन हो जाने के बाद ग्रन्थि का बना रहना सभव नही है। कुठाग्रस्त मन की अभिव्यक्ति महान हो ही नही सकती। तुलसी–जैसा प्रथम श्रेणी का सत कवि इतनी उदात्त कृति की सर्जना कुठारहित भाव से ही कर सकता था।"[2]

रस के प्रसग मे डा० नगेन्द्र ने बडी गहराई से विचार किया है। और साहित्य चितन के परिप्रेक्ष्य मे उनकी नवीन व्याख्या की है। साधारणीकरण के सदर्भ मे वे अभिनव गुप्त से प्रेरित हो कर ही कहते है कि साधारणीकरण कवि की अनुभूतियो का होता है। जब कि शुक्ल जी की मान्यता है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। इस प्रकार नगेन्द्र रस के रूढ और शास्त्रीय अर्थ का परित्याग करके, व्यापक अर्थ मे उसे व्यक्तित्व की सार्थकता की सिद्धि एव प्रतीति से जोडते है। अर्थात् आत्म साक्षात्कार जो वाणी था शब्द–अर्थ के माध्यम से घटित होकर कविता का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इस तरह मूल्याकन का प्राथमिक निकष है– अपनी सत्ता की सार्थकता की प्रतीति। डा० नगेन्द्र कविता की श्रेष्ठता का जो प्रतिमान निर्धारित करते है वह है– रागात्मक सवृद्धि और उनका व्यजक शब्द विन्यास। यह रागात्मक सवृद्धि वही परिलक्षित होती है जहा हमे कविता के माध्यम से व्यक्तित्व की

---

1 डा० नगेन्द्र– विचार और विश्लेषण– पृ०– 49-50

2 डा० रणवीर रागा (सम्पा०) डा० नगेन्द्र– व्यक्तित्व एव कृतित्व पृ०–141

सार्थकता का अनुभव हो। स्वय उन्ही की शब्दो मे– 'इस प्रकार रागात्मक बोध एक व्यापक और समकालित काव्यमूल्य है। जिसका आधार है शब्द अर्थ के माध्यम से मानव व्यक्तित्व की सार्थकता की प्रतीति, और सिद्धि है आनन्द। इसकी प्रक्रिया मे रागात्मक सवृद्धि का प्राधान्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद डा० नगेन्द्र ही ऐसे आलोचक है जिन्होने अपने स्वतन्त्र चितन से हिन्दी आलोचना को सवृद्ध किया है।'

प्रगतिवादी दौर सन् 1940 के दशक के मध्य जहा शुक्लोत्तर पीढी के आलोचक छायावाद के पुनर्मूल्याकन और प्रतिष्ठा के प्रश्न को लेकर परेशान थे, स्वत छायावादी कवियो ने यह महसूस किया कि छायावाद मे गतिरोध उत्पन्न हो गया है और वह पतन की ओर उन्मुख पूजीवाद की ओर बढ गया है। ऐसे मे उन्होने छायावाद के अन्त की घोषणा करके नयी चेतना का आह्वान किया एव नवीन सामाजिक तत्वो की खोज प्रारम्भ कर दी। समाज के बैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर मार्क्स तथा ऐगेल्स ने द्वन्दात्मक भौतिकवाद की स्थापना करके समाज एव प्रकृति के प्रत्येक पक्ष पर पुन सतुलित ढग से विचार किया था। उन्होने सामाजिक सबधो मे परिवर्तन के कारण आर्थिक आधार एव उत्पादन के साधनो मे खोजने की जरूरत महसूस की। हर युग मे समाज की नयी–पुरानी शक्तियो मे सघर्ष होता है और इस सघर्ष द्वारा एक नयी जीवन उन्मुख शक्ति का जन्म होता है। और साहित्य पुन सजीव हाने लगता है।

छायावाद का स्खलन जिन कुठाग्रस्त ह्रासोन्मुखी काव्य प्रवृत्ति मे हो गया था, उससे क्षुबध होकर इन कवियो को इस नये दर्शन मे साहित्य–सृजन की नयी दिशा का सकेत दिखाई पडने लगा। कहना न होगा कि छायावाद के वरिष्ठ कवि ही सबसे पहले प्रगतिवाद के समर्थक बने।

प्रगतिवाद सृजन और आलोचना के क्षेत्र मे एक नया दृष्टिकोण लेकर उपस्थित हुआ था। जीवन के प्रति सर्वथा नया दृष्टिकोण होने के कारण नये साहित्य

के मूल्याकन के लिये पिछली सभी समीक्षा कसौटियो को रद्द कर दिया। रीतिबद्ध समीक्षा, गुण–दोष विवेचना, प्रभाववादी तुलनात्मक समीक्षा तथा शुक्ल जी की व्याख्यात्मक आलोचना–पद्धतियो को उसने अपर्याप्त मान कर त्याग दिया।

प्रगतिवाद व्याख्यामूलक साहित्यिक रस को सामाजिक यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहता था। उसका दृष्टिकोण पूर्णतया जनकल्याणकारी था। उसके समीक्षा के प्रमुख मानदण्ड उसकी दृष्टि मे साहित्य की सउद्देश्यता थी। सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन ही प्रगतिवादियो के अनुसार साहित्य का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। इसी समय 'हस' पत्रिका के प्रगति अक मे एडवर्ड –अपवर्ड ने 'साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या' शीर्षक से एक लेख लिखा और कुछ महत्वपूर्ण मुद्दो को स्पष्ट किया। प्राचीन साहित्य की प्रासगिकता को लेकर उन्होने कहा– "प्राचीन काल मे लिखी गयी पुस्तके जो अपने काल के जीवन की सतह का ठीक चित्रण करती थी और आज हमारे अनुभव सिद्ध जीवन के बारे मे हमे कुछ नही बताती, साहित्य के नाते मृत है, चाहे ऐतिहासिक लेख पत्र के रूप मे उनका महत्व भले ही हो। तथापि अतीत के जिन पुस्तक ने जीवन की सतह के नीचे काम करने वाली शक्तियो को प्रतिबिम्बित किया है वह बहुत सभव है हमारे आज के बुनियादी यथार्थो के बारे मे भी महत्वपूर्ण बाते बता सके। सतह के ऊपर गति नीचे से अधिक तीव्र होती है। जितनी ही गहराई से किसी लेखक की अन्तर्दृष्टि सतह भेदकर नीचे पहुँचेगी उतने ही दीर्घकाल तक उसकी कृति परिवर्तनशील यथार्थ–जगत् के प्रति पुरानी नही पडेगी।"

इससे स्पष्ट हे कि प्रगतिशील समीक्षा का आग्रह सामाजिक यथार्थ की सही अभिव्यक्ति की ओर ही था। उसकी दृष्टि मे पूजीवाद को नष्टकर समाजवाद की स्थापना के लिए प्रयत्नशील शक्तियाँ ही आज की आधारभूत शक्तियाँ हे। साहित्य उनके अनुसार वर्ग चेतना की अभिव्यक्ति है। अत सही साहित्य सृजन के लिये साहित्यकार और जन–सामान्य का रागात्मक सम्बन्ध अत्यन्त आवश्यक है।

जन–सामान्य उनकी समस्त विचारधारा का केन्द्र है अत सौन्दर्य बोध की चर्चा करते हुए भी वे सौन्दर्य की उपस्थिति जनता मे मानते है। उनके अनुसार–सोन्दर्यबोध का निर्माण परिस्थितियो और सामाजिक सम्बन्धो से होता है। प्रगतिवादी आलोचना भाषा, छन्द, अलकार, शैली को जनसामान्य के बीच से ग्रहण करती है । भाषा शैली की सहजता सरलता एव स्पष्टता पर उसका विशेष बल रहता है। क्योकि उसमे जनता को प्रभावित करने की सामर्थ्य होती है। इस प्रकार हिन्दी मे प्रगतिशीलता का एक नया दौर प्रारम्भ हुआ तथा आलोचना के क्षेत्र मे नयी मान्यताये प्रकट होने लगी प्रगतिशील आलोचना के सिद्धान्तवादी आलोचको मे मूख्यत श्री शिवदान सिह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, डा० नायवर सिह, अमृतराय, राङ्गेय राघव, आदि प्रमुख है।

शिवदान सिंह चौहान : सर्वप्रथम शिवदान सिह चौहान ने 1937 ई० के 'विशाल भारत' मे 'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक एक लेख लिखा, इसमे प्रगतिशील साहित्य के सिद्धान्तो का विवेचन करने के साथ–साथ इस लेख मे उन्होने भक्तिकालीन एव रीति कालीन साहित्य पर विध्वसात्मक टिप्पणी की, एव वर्तमान साहित्य मे स्वस्थ विचार धारा के अभाव की ओर सकेत किया। 'प्रगतिवाद' मे सकलित उनके आरम्भिक निबन्ध उनकी परिपक्व दृष्टि के सूचक है। प्रेमचन्द्र जी के बाद आपने प्रगतिशील 'पत्र हस' का सम्पादन कार्य प्रारम्भ किया, और उदारवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। पत की कविताओ के प्रति सहृदयता इसी उदार दृष्टि का प्रमाण है।

सन् 1943 के 'हस' के 'प्रगतिअक' के प्रकाशन से प्रगतिशील विचारधारा का सुस्पष्ट रूप सामने आया। 1951 मे आपने 'आलोचना' का सपादन आरम्भ किया। 'साहित्य अनुशीलन', 'साहित्य की परख' एव 'आलोचना के मान आपके तीन आलोचना ग्रन्थ है। इनमे पुस्तक समीक्षाये एव सैद्धान्ति निबन्ध आदि सकलित है।

चौहान जी मार्क्सवाद मे कट्टरता के विरोधी एव उदारता के समर्थक है। किन्तु साहित्यिक मूल्याकन के समय सैद्धान्तिक आग्रह से काफी हद तक प्रभावित दिखाई देते है। प्रगतिवाद को पश्चिम की वस्तु मानने वाले समालोचको के मत का खण्डन करते हुए उन्होने स्पष्टत कहा है कि– “पूर्व–पश्चिम, भारतीय–अभारतीय, कहकर विचारधाराओ मनोवृत्तियो और सौन्दर्य–मूल्यो को देश काल की सकुचित परिधि मे बाध कर नही रख सकते।” (प्रगतिवाद– पृ० 1) शिवदान सिह चौहान जी की आलोचना शैली की चर्चा करते समय उनकी गभीरता से इकार नही किया जा सकता किन्तु विचारो की दुरूहता और भाषा की प्राजलता मे गतिरोध प्राय कॉडवेल के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ जान पडता है।

हिन्दी आलोचना मे प्रगतिवादी आलोचना के विकास के साथ–साथ पश्चिम के कुछ विद्वानो की कृतियो द्वारा भी प्रगतिवादी आलोचना का विकास हुआ, जिनकी सक्षिप्त चर्चा के बिना यह प्रयास अधूरा सावित होगा।

मार्क्सवादी आलोचना की शुरूआत जार्ज प्लखानोव के 'आर्ट एण्ड सोसाइटी' लियोनट्राटस्की के (लिटरेचन एण्ड रीवोल्यून) तथा अग्रेजी साहित्य के महान आलोचक क्रिस्टोफर कॉडवेल की 'स्टडीज इन डाइग कल्चर' एव 'फर्दर स्टडीज इन डाइग कल्चर' तथा 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी' से होती है इस आलोचना को नयी दिशा देने मे हावर्डफ्रास्ट, जार्जलूकाच, रोजर फ्राइ, अन्स्र्ट फिशर, और कार्ल मैकहिम (आइडियोलाजी एण्ड यूटोपिया) का महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रकाश चन्द्र गुप्त प्रकाशचन्द्र गुप्त जी की आलोचना दृष्टि डा० चौहान जी से भी उदार रही। उनमे प्रगतिशीलता का आग्रह इतना कम है कि कुछ एक पक्तियॉ निकाल देने पर उनका स्वरूप शान्तिप्रिय द्विवेदी की प्रभाववादी आलोचना जैसा हो जाता है। अग्रेजी के शिक्षक होते हुए भी गुप्त जी ने जिस निष्ठा से 'हिन्दी साहित्य'

की प्राचीन परम्परा का अनुशीलन और समसामयिक साहित्य का राहानुभूति पूर्वक सर्वेक्षण किया वह प्रशसनीय है। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि (1952) हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा' (1953) और 'साहित्य धारा' (1965) आदि ग्रन्थो मे सकलित विविध निबन्ध उनकी व्यापक आलोचना दृष्टि का सही परिचय देते है। अपने समकालीन मार्क्सवादी आलोचनको से भिन्न वे हमेशा विध्वसात्मक आलोचना से बचते रहे। यही कारण है कि शालीनता उनकी आलोचना का गुण बन गया। सुबोधता एव सरलता उनकी शैली की विशेषताये बन गयी। जो उनके विचारो को अधिक ग्राह्य बनाती है।

डा० राम विलास शर्मा डा० राम विलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचको मे से सबसे विवादास्पद आलोचक है। निर्भीक, पैनी और स्पष्ट आलोचना दृष्टि उनकी सबसे बडी विशेषता है। उन्होने अपनी आलोचना यात्रा निराला के साहित्य की व्याख्या से प्रारम्भ, की थी और उनकी सर्वोत्तम उपलब्धि भी 'निराला की साहित्य-साधना ही है आलोचको मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, उपन्यासकारो मे प्रेमचन्द्र तथा कवियो मे निराला उन्हे सबसे प्रिय है। और असदिग्ध रूप से ये तीनो साहित्यकार उनके आलोचनात्मक मान के भी आधार स्तम्भ हैं। इस दृष्टि से 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' 'प्रेमचन्द्र और निराला की साहित्य-साधना' स्वय लेखक की ही नही बल्कि हिन्दी आलोचना साहित्य का उपलब्धियॉ है। लेकिन उनके आलोचना कर्म की पराकाष्ठा निराला साहित्य के मूल्याकन मे ही दृष्टिगत होती है। इस ग्रन्थ की रचना के पीछे उनका उद्देश्य "निराला के परिवारिक-सामाजिक परिवेश से, उस युग की सास्कृतिक परिस्थितियो से उनके जीवन के वाह्यरूपो के साथ उनके अन्तर्जगत् से पाठको को परिचित कराना है।" हिन्दी मे साहित्यकारो के व्यक्तित्व-कृतित्व' सम्बन्धी अध्ययनो का अभाव नही है। किन्तु ऐसा अध्ययन जिसमे ये दोनो अलग खानो मे बटे न रह कर एक इकाई बन जाये। एक की समझ दूसरे के मूल्याकन मे सहायक हो

जाए, और एक के सही जानने के लिये दोनो की पारस्परिकता का ज्ञान अपरिहार्य प्रतीत होने लगे, इस ग्रन्थ से पहले देखने को नही मिला। निराला के जीवन–चरित्र के बहाने डा० राम विलास शर्मा जी ने उस समय के हिन्दी साहित्य के वातावरण और परिवेश का जो अन्तरग परिचय प्रस्तुत किया है वह जैसे इतिहास–ग्रन्थो मे अनुपलब्ध घटनाओ के आधार पर निराला के समकालीन साहित्यिक इतिहास की पुनर्रचना है। डा० रामविलास शर्मा जी ने मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्तो के कोरे प्रतिपादन से ही सतोष नही किया बल्कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समूचे हिन्दी साहित्य की परम्परा की नयी व्याख्या प्रस्तुत करके मार्क्सवादी आलोचना का सामर्थ्य स्थापित कर दिखाया, यही नही उन्होने बाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तु किया। 'आदि काव्य और भवभूति की करूणा' अपने समय की अप्रतिम आलोचनाये है। डा० राम विलास शर्मा की दृष्टि मे भारतीय साहित्य की समूची परम्परा का परिप्रेक्ष विद्यमान है। जो उनके मूल्याकन को गुरूता और विश्वनीयता प्रदान करता है।

मार्क्सवादी हाने के बाद भी वे जड मार्क्सवादी आलोचना के पक्ष में नही थे। 'आस्था और सौन्दर्य नामक पुस्तक मे सौन्दर्य की वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत करके उन्होने सौन्दर्य को व्यक्ति या विषय मे नियत करने के बजाय उन दोनो के सघात मे देखा है। साथ ही साहित्य को 'शुद्ध' विचारधारा का रूप मानने से इन्कार करते हुए यह घोषणा भी की है कि – "साहित्य का भावो और इन्द्रिय बोध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ललित कलाओ को विचारधाराओ के रूपो मे गिनना सही नही है।"

डा० शर्मा ने आचार्य शुक्ल का विरोध करने के स्थान पर उनके विचारो की पुष्टि करते हुए उनकी पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की और साथ ही युगानुरूप उनका विस्तार भी किया। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' की भूमिका मे उन्होने स्पष्ट

शब्दो मे लिखा– "हिन्दी साहित्य मे शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का है। उन्होने आलोचना के माध्यम स उसी सामन्ती सस्कृति का विरोध किया, जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रमचन्द प निराला ने किया था। शुक्ल जी ने न तो भारत के रूढिवाद को स्वीकार किया न ही पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होने वाह्य जगत् व मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य सिद्धान्तो की स्थापना की, और उनके आधार पर सामन्ती सहित्य का विरोध किया। जनतन्त्र व देशभक्ति की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया।"

डा० रामविलास शर्मा ने पत की 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की जो समीक्षाये की, उनकी मूल दृष्टि को देखते हुए प्राय उनकी आलोचना को विध्वसात्मक कहा जाता है। अवाछनीय तत्वो की सफाई करके विधेयात्मक मूल्यो की प्रतिष्ठा का उनका प्रयास ही उनके विध्वसात्मक आलोचक हाने का भ्रम पैदा करता है। किन्तु ध्यान से देखा जाय तो उनके जैसे दो टूक, खरी बात करेन वाले आलोचक हिन्दी मे दुर्लभ है। उन्होने हिन्दी आलोचना की भाषा को शास्त्रीय दुरूहता से मुक्त कर बोल–चाल के स्तर पर लाने और जटिल विचारो का माध्यम बनाने का श्रेय भी उन्ही को जाता है।

डा० नामवर सिह डा० नामवर सिह समाजवादी जीवन दृष्टि और नयी कविता की भावभूमि के समवेत बोध को लेकर आलोचना क्षेत्र मे उतरे। अपने पूर्ववर्ती प्रगतिवादी आलोचको से भिन्न उन्होने नयी कविता को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखा और मुक्तिबोध के आवाहन का स्वागत किया। उनकी प्रथम आलोचनात्मक रचना छायावाद (1945ई०) उस समय सामने आयी, जब छायावाद समर्थन और विरोध के दो विभिन्न चरण झेल चुका था। अब तक छायावाद की ऐतिहासिक–सामाजिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के प्रयास ही हुए थे। किन्तु डा० नामवर सिह ने प्रथम बार छायावादी

कविता के छायाचित्रो मे निहित सामाजिक सत्य का उद्घाटन किया। यह पुस्तक मार्क्सवादी आलोचना के परिष्कृत रूप का परिचय और शैलीगत ताजगी का स्पर्श कराती है। डा० नामवर सिह की 'कविता के नये प्रतिमान' (1968 ई०) दूसरी काव्य समीक्षात्मक पुस्तक है। दो खण्डो मे विभाजित इस पुस्तक मे जहा एक ओर परम्परा से प्रतिष्ठित प्रतिमानो की प्रासगिकता पर एकबारगी प्रश्न चिन्ह लगाये गये है, वहा नयी कविता के सदर्भ मे काव्य मूल्यो का सवाल भी उठाया गया है। नयी कविता के दायरे को विस्तृत करते हुए यहा वे उन कवियो को भी विचार की सीमा मे ले आना आवश्यक समझते है, जिन्हे किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव मे सामान्यत लम्बी कविता कहा जाता है। इसी लिए उन्होने खुलेआम 'वैयक्तिक व आत्मपरक छायावादी सस्कारो' मे गढे हुए प्रतिमानो का विरोध किया है। मुक्तिबोध की कविताओ के रूप मे उन्होने काव्य के उन मूल्यो पर बल देने का दावा किया है– "जो अपनी याथर्थ दृष्टि मे सामाजिक व वस्तुपरक है और आज के ज्वलत एव जटिल यथार्थ को अधिक से अधिक समेटने के प्रयास मे कविता को व्यापक रूप मे नाट्य–विन्यास प्रदान कर रहे है। और इस तरह तथाकथित विम्बवादी काव्यभाषा के दायरे को तोडकर सपाट आदि अन्य क्षेत्र आदि मे कदम रखने का साहस दिखा रहे है।" इसके अतिरिक्त सामान्यरूप से साहित्यिक मूल्यो को सपष्ट करने का प्रयत्न उन्होने 'इतिहास और आलोचना' शीर्षक पुस्तक के निबन्धो मे किया है। 'व्यापकता और गहराई' की चर्चा करते हुए दोनो को विरोधी गुणो के रूप मे देखने वाले तथा 'व्यापकता' की अपेक्षा 'गहराई' को अधिक मूल्यवान मानने वाले दृष्टिकोण का उन्होने विरोध किया है कुछ अन्य निबन्धो मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य के इतिहास की पुनर्व्याख्या का जोखिम भी उठाया है। ये निबन्ध निश्चित रूप से साहित्य–इतिहास–लेखन की एक नयी दिशा का निर्देश करते है। कहानी, नयी कहानी के माध्यम से उन्होने समीक्षा के क्षेत्र मे अबतक उपेक्षित कथा–समीक्षा को काव्य समीक्षा के स्तर तक उठा कर उसे गौरव

प्रदान किया है।

स्वातन्त्रोत्तर दौर

1950 के दशक मे हिन्दी आलोचना मे सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नरायण शाही, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारतीय, डा० रघुवश, डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्रयोगवाद तथा नयी कविता के काल मे अज्ञेय का चितन नयी आलोचना के वुनियादी आधारो को लेकर सामने आता है। 'तारसप्तक' की भूमिका से अज्ञेय की धूम मच गयी, दूसरा एव तीसरा तारसप्तक के आलोचनात्मक–सूत्र हिन्दी पाठक के कठाहार बन गये। यद्यपि अज्ञेय के विचारो का बहुत विरोध भी हुआ, परन्तु विरोधो मे उन्हे शक्ति दी। अज्ञेय जिन्होने नयी कविता को सभव बनाया था, उन्होने नयी आलोचना को भी पुन सभव बनाया।

अज्ञेय ने काव्य के नये प्रतिमानो के लिये कडा सघर्ष किया। परम्परा, प्रयोग, आधुनिकता, सस्कृति आदि के प्रति उनका रूझान गहरा था 'त्रिशकु' के निबन्धो से और बाद मे 'केन्द्र और परिधि' 'आत्मपरक', 'सवत्सर' आदि के निबन्धो से यह तथ्य और भी पुष्ट हुआ। प्रारम्भ मे अज्ञेय जी टी०एस इलियट से प्रभावित है लेकिन बाद के अज्ञेय शुद्ध भारतीय परम्परा के चितक बन जाते है। देश विदेश की जानकारी मे अज्ञेय का कवि–आलोचक बडा चौकन्ना है। मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र, न्यू क्रिटेसिज्म (नयी समीक्षा) नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र– आदि से जो नया चितन पश्चिम मे जन्मा था, अज्ञेय जी उसे भी हिन्दी मे लाते है, और हिन्दी जाति की प्रकृति मे उसे ढाल देते है।

परम्परा प्रयोग तथा रचना–प्रक्रिया सबन्धी आलोचनात्मक चितन ने हिन्दी आलोचना को सवृद्ध बनाया है। और नयी दिशा दी है।

स्वतनत्रता प्राप्ति के बाद के प्रतिनिधि आलोचको मे एक विशिष्ट नाम विजय

देव नरायण साही का है। साही जी नये साहित्य के सबसे धारदार प्रवक्ता और सिद्धान्तकार है। साही के सिद्धान्त–वाक्यो की माला फेर कर हिन्दी के बहुत से आलोचक अपने को 'छठा सवार' कहते रहे है। दिलचस्प बात यह है कि किसी एक ही निबन्ध से किसी आलोचक को इतनी ख्याति मिली हो, ऐसा उदाहरण हिन्दी मे दूसरा नही है।, यह निबन्ध है– 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस'। साही जी के इस एक निबन्ध ने नयी कविता की जटिल सवेदना ओर विडम्बना को धूप सा साफ कर दिया। फलत नयी कविता की बुनियादी पकड और समझ के लिये 'साही' अनिवार्य नाम होता चला गया। साही जी ने 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक निबन्ध मे तर्कों से सिद्ध किया कि न केवल कविता का ऊपरी कलेवर बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट मे बदलाव आ गया है। अब जरूरत नयी कविता के प्रतिमान खोजने की नही है। अब कविता के ही प्रतिमान खोजने की जरूरत है। वास्तव मे, नयी कविता के आलोचक लक्ष्मीकान्त वर्मा की पुस्तक 'नयी कविता के प्रतिमान' का सीधा निषेध था। साही जी ने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर नये सोच के साथ वर्षों चितन किया। इसी चितन का सुफल है– उनकी बहुप्रशसित आलोचना पुस्तक 'जायसी'। इस आलोचनात्मक कृति मे साही ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अनेक धारणाओ का सशोधन किया है। और नयी समीक्षा के लिये एक नयी दृष्टि प्रदान की है।

अतुकात के कवि लक्ष्मीकान्त वर्मा (1922) का आलोचना कर्म मे प्रवृत्त होना नयी कविता की सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या के आरम्भ का सूचक है। 'नयी कविता के प्रतिमान' (1957) की भाव प्रवण व्याख्या शैली के कारण उन्हे शान्ति प्रिय द्विवेदी के साथ स्मरण किया जाने लगा। हालाकि आगे चल कर वे विजय देव नरायण साही की दृष्टि से प्रेरित हुए और नयी कविता के मूल मे 'लघु मानव' की प्रतिष्ठा कर विवादो का विषय रहे। बाद मे उन्होने अज्ञेय द्वारा प्रवर्तित नयी कविता की छद्म

छायावादिता के विरूद्ध आवाज उठाई और 'सप्तक' के कवियो की रूमानी भावुकता की कटु आलोचना की। यह परिवर्तन, 'नये प्रतिमान पुराने निकष' मे राकलित 'ताजी कविता– कुछ जोड बाकी' शीर्षक निबन्ध मे लक्ष्य किया जा सकता है। उनका ऐतराज उस 'लिखित मूड' से था जिससे आज नया कवि बुरी तरह ग्रस्त दिखाई देता है। यही कारण है कि उन्होने नयी कविता को छायावाद का ही आग्रह माना है और प्रयोगवाद को दोनो का मिश्रण माना है। "नयी कविता और छायावाद के बीच अर्द्धचेतन मे प्रयोगवाद के रूप मे समझौता हुआ था।" अत बर्माजी ने आलोचना के स्तर पर गैर रूमानी काव्य सिद्धान्त का रूप खडा किया।

रामस्वरूप चतुर्वेदी जी का नामोल्लेख नवलेखन और नयी कविता के उन व्याख्याकारो मे किया जाता है जिनकी काव्यरूचि का आधार अज्ञेय का कृति–साहित्य है। अपनी पहली पुस्तक 'नवलेखन' मे वे सर्वेक्षण से आगे नही बढे किन्तु 'भाषा और सवेदना' मे आप ने काव्य भाषा की सृजन–शीलता को आलोचना का केन्द्रिय विषय बनाया। भाषा की कविता के मूल्याकन का प्रतिमान मानते हुए उन्होने घोषणा की– "आज की कविता को जाचने के लिये, जो अब सचमुच 'प्रास के रजत पाश' से मुक्त हो चुकी है, जो अलकारो की उपोगिता अस्वीकार कर चुकी है, जो अलकारो की उपयोगिता अस्वीकार कर चुकी है, काव्यभाषा का प्रतिमान ही शेष रह गया है क्योकि कविता के सघटन मे भाषा–प्रयोग की मूल और केन्द्रिय स्थिति है।" इस सिद्धान्त के व्यवहारिक पत्र का उद्घाटन अज्ञेय की भाषा की सर्जनात्मकता का विश्लेषण करते हुए किया गया है। हिन्दी मे पुनर्मूल्याकन को सही–सही परिभाषित करने की दिशा मे 'कामायनी का पुनर्मूल्याकन' एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

नयी कविता के अन्य आलोचको ने गिरजा–कुमार माथुर, रामशेर बहादुर सिह और धर्मवीर भारतीय के आलोचनात्मक प्रयासो का उल्लेख भी यहा अत्यन्त प्रासगिक हो जाता है कला की जैसी वारीक परख समशेर बहादुर सिह जी को है वैशी अन्यत्र

दुर्लभ प्रतीत होती है। दूसरे 'तारसप्तक' मे सकलित उनका कवि वक्तव्य एक सच्चे कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि का ही परिचायक है। शमशेर ने 'हस और नया साहित्य' म काफी समय तक समकालीन कृतियो की समीक्षाये की। बाद मे वे 'दो आब' मे सकलित हुई। 'तारसप्तक' की समीक्षा इनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यही नही 'मुक्त छन्द' शीर्षक निबन्ध निराला के विवेचन की एक महत्वपूर्ण कडी है। अज्ञेय से भिन्न 'प्रयोग' की नयी परिभाषा देने का श्रेय भी शमशेर जी को जाता है। प्रयोगशील नयी कविता के पक्षधर प्रवक्ता होने के नाते आलोचनात्मक कर्म मे डा० धर्मवीर भारतीय की आस्था अधिक है। 'साहित्य और मानव मूल्य' (1960) तथा 'पश्यन्ती' (1969) सग्रहो मे सकलित लेखो मे उन्होने नयी कविता के मूल्यो को सैद्धान्तिक स्तर पर स्थापित करने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया मे वे पुरानी पीढी की धुरी हीनता पर भी ध्वसात्मक आक्षेप करते चलते है। किन्तु ये सभी लेख सामान्यत 'पत्रकारिता' की मूलवृत्ति से प्रेरित जान पडते है।

गिरजाकुमार माथुर के आलोचनात्मक कर्म की शुरूआत 'तारसप्तक' मे प्रकाशित उने कथनो के साथ हुई, जिसमे उन्होने कविता के अन्तर्गत 'टेकनीक' का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। बाद मे वे नयी कविता के सदर्भ मे उनकी ऐतिहासिक पीठिका, नूतन भाव बोध, मानवीय मूल्यो का परिप्रेक्ष, रोमान और प्रगीतात्मकता जेसे सिद्धान्तिक प्रश्नो की ओर भी उन्मुख हुए। 1966 ई० मे इन समस्त आलोचनात्मक निबन्धो का सकलन 'नयी कविता सीमाये और सम्भावनाये' शीर्षक विचारोत्तेजक निबन्ध भी लिखा। कुल मिलाकर इनके लेखन की एक ही उपलब्धि है और वह आधुनिक भावबोध के वैज्ञानिक पक्ष का उद्घाटन।

अत सक्षेप मे हम कह सकते है कि समसामयिक हिन्दी आलोचना का अनेक स्तरो पर विस्तार और विकास हो रहा है। हिन्दी आलोचना का पत्र–पत्रिकाओ और पुस्तको से जनव्यापी प्रसार हो रहा है। नये आलोचक नये मूल्यमानो के प्रति बौद्धिक

रूप से सतर्क व सजग है देश–विदेश की नवीन आलोचना–पद्धतियो को समझते और समझाते हुए हिन्दी का नया आलोचक आगे बढ रहा है, प्रधानत नये साहित्य की समस्याओ को लेकर चलने वाले आलोचको मे –प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, देवी शकर अवस्थी, परमानन्द श्रीवास्तव, नित्यानन्द तिवारी, चन्द्रकाता वादिवडेकर, रामकमल राय आदि है। आप सबकी प्रखर दृष्टि हिन्दी आलोचना के उज्जवल भविष्य का सदेश दे रही है।

पंचम–अध्याय

प्रगतिशील आलोचना के नये प्रतिमान

प्रगतिशील आलोचना के नये प्रतिमान

मार्क्स के वर्ग सघर्ष को जब साहित्य के क्षेत्र मे देखा जाने लगा तो साहित्य के मानदण्ड बदल गये। प्राय यह सदियो से चला आया है कि जब किसी समाज मे परिवर्तन होता है या समाज का एक नयी व्यवस्था की ओर अग्रसर होता है तो साहित्य के प्रतिमानो मे भी परिवर्तन होने लगता है। और पिछले मानदण्डो का स्थान नये मानदण्ड ले लेते है परन्तु नये मानदण्ड अपने पुराने मानदण्डो से भी बहुत कुछ ग्रहण करते है। यथा–काव्यशास्त्र के विषय मे समय–समय पर आचार्यों ने विभिन्न नियम–मत प्रतिपादित किये थे। यूरोप मे यूनान से आर्थिक प्रेरणा ग्रहण की जाती है।

साहित्यकार सैदव नियमो मे बध कर रचनाये नही करता, वह तो समाज को, अपने को प्रकट करके ही सतोष प्राप्त करता है। शेक्सपियर अपने वास्तविक जीवन मे सामान्तीय युगीन व्यक्ति था और अपनी रचनाये सामन्तो को सप्रेम अर्पित भी करता था। जो आज का कवि नहीं कर सकात। परन्तु वह एक रचनाकार था। स्वय कार्ल मार्क्स ने उसकी रचनाओ में उठे पूजीवाद के प्रगतिशील तत्वो की हिमायत पायी थी। यही कारण है कि मार्क्स ने शेक्सिपियर को महान लेखक माना था।[1]

महान लेखक प्राय अपने भीतर प्रगतितत्व धारण करता है, प्रगति जन कल्याणकारी है, यह कितना अधिक है या कितना कम है इसका निर्धारण प्रगतिशीलता के मानदण्ड कर सकते है। प्रगति इस ससार मे सैदव रही है, वह जीवन मे भी और साहित्य मे भी, परन्तु आज हम जिसे प्रगतिशीलता कहते है वह सामाजिक विश्लेषण के आधार पर होनी चाहिए। इस प्रगतिशीलता का जन्म कार्ल मार्क्स से माना जा सकात है क्योकि वर्ग सघर्ष की वैज्ञानिक जानकारी उसी ने सर्व प्रथम प्रस्तुत की।

---

1 प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड–रागेय राघव प्रथम स०– पृ०–6

प्रगतिशील साहित्य का सृजन करने के लिये यह आवश्यक नही है कि रचनाकार मार्क्सवादी ही हो। वह मानवतावादी भी हो सकता है। इसी प्रकार चालीस के दशक से प्रगतिशील रचनाये हिन्दी साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र यथा–कहानी नाटक, निबन्ध उपन्यास, आलोचना आदि मे क्रमश रची जाने लगी। अत प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की मानवतावादी विचारधारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियो का विकास कहा जा सकता है।

प्रगतिशील साहित्य मात्र निम्न वर्गों का जीवन चरित्र नही प्रस्तुत करता, वह उच्च वर्गो की वास्तविकता, उनके सघर्ष, स्वार्थ रक्षा के प्रयत्न, उनके अन्तर्विरोध आदि को भी प्रकट करता है। प्रगतिशील साहित्य केवल एक वर्ग की वस्तु नही है। वह तो सबके लिये है। प्रगतिशील साहित्य सब वर्गों की वस्तु होते हुए भी सत्य का आलम्बन लेता है। और सत्य समाज का सच्चा चित्रण है। जो शोषित वर्ग का ही पक्ष ले सकता है। शोषक वर्ग का नही।

प्रगतिशील साहित्य ससार की किसी भी वस्तु की भॉति निरन्तर बदलता रहता हे। इसका कारण है ससार की प्रत्येक वस्तु का प्रतिक्षण बदलना। इस प्रकार प्रगतिशीलता का तत्व शकर दर्शन के मायावाद मे तथा विशिष्टाद्वेत मे माया न हो कर लीला रूप मे आया है। बाद मे मीमासा शास्त्री ईश्वर को नही मानते, भारतीय परम्परा मे विचारो की स्वतन्त्रता, विचारो मे परिवर्तन एव खण्डन मन्डन की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। जैसे–जैसे समाज मे परिवर्तन हुआ, साहित्य भी समाज के अनुकूल नही बदल पाया जबकि प्रगतिशील साहित्य समाज मे साहित्य को जोडकर देखता है, अलग करके कभी नही देखता। अत इसके मानदण्ड नित्य नही बदलते, उनका अपना एक दर्शन है जो कल्पना से पैदा नही होता है। विज्ञान का आधार ग्रहण कर, कुछ निष्कर्ष निकालने पर, इतिहास व राजनीति की समाजिकता

देख कर कुछ निष्कर्ष निकाले गये है जो प्रगतिशील आलोचना के मानदण्ड साबित हो सकते है।

प्रगतिशील विचारक उन सभी विचार धाराओ को गलत मानता है जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकागी बनाने का प्रयत्न करती है। व्यक्ति की उन विचारधाराओ को वह ठीक नही समझती जो समाज मे शोषण को प्रश्रय देती है। और जो मनुष्य को मनुष्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से घृणा करना सिखाती है। राजनीति के क्षेत्र मे यह वर्गहीन शोषणहीन ससार बनाने की पक्षधर है।

प्रगतिशील समीक्षा के इतिवृत्तात्मक अनुशीलन करने वाले, प्राय शिवदान सिह चौहान को पहला प्रगतिशील समीक्षक मान लेते है। जबकि वास्तविकता इससे भिन्न है। प्रगतिशील लेखक सघ के सगठन का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए यह उल्लेख किया जा चुका है कि सन् 1934 के लगभग किस प्रकार लेखको को एकत्रित करने का प्रयत्न आरम्भ हो चुका था। उसी क्रम मे अख्तर हुसेन रायपुरी ने अज्ञेय तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि का डट कर विरोध किया था और प्रगतिशील आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। उन्होने 1933 अप्रैल माह की ('विश्वामित्र' कलकत्ता) मे 'साहित्य और क्राति' शीर्षक निबन्ध लिखकर हिन्दी के लेखको का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था।

यथार्थ, समाज़, राजनीति, क्राति, स्वाधीनता सघर्ष आदि से साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकार प्रतिमानो मे परिवर्तन तो प्राय शुक्ल जी से ही प्रारम्भ हो चुका था। सन् 1940 तक की हिन्दी आलोचना को देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि सामन्ती रूढिवाद से पोषित शास्त्रीय मानदण्डो एव अध्यात्मवाद–रहस्यवाद–आनन्दवाद इत्यादि के विरूद्ध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जबरदस्त विचारधारात्मक सघर्ष चलाया। इसके साथ ही वे हिन्दी के पहले समीक्षक थे जिन्होने पश्चिम की पतनशील व्यक्तिवादी सौन्दर्य दृष्टि एव कलावाद (अभिव्यजनावाद) का विरोध किया। आचार्य

शुक्ल ने लिखा–आध्यात्म शब्द की मेरी समझ मे काव्य या कला के क्षेत्र मे कही कोई जरूरत नही है।[1]

प्रगतिशील समीक्षा से पहले प्रचलित 'लोकोत्तर आनन्द' के रसवादी सिद्धान्त की 'अलौकिकता' के जरिये समती रूढिवाद सस्कार के समीक्षक यथार्थवाद का विरोध करते थे। आचार्य शुक्ल ने पश्चिम के कलावाद और भारतीय आनन्दवाद को एक साथ अपना निशाना बनाया। उन्होने लिखा– 'इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है, उसे नाच–तमाशे की तरह बना दिया है।[2]

डॉ० राम विलास शर्मा जी ने हिन्दी कि प्रगतिशील समीक्षा के ऐतिहासिक कार्यभार को आचार्य शुक्ल की सामतवाद विरोधी एव व्यक्तिवाद विरोधी भूमिका से जोडकर अपने जातीय–साहित्य चितन के प्रगतिशील तत्वो को आगे बढया। इस दृष्टि से ही उन्होने आचार्य शुक्ल के बारे मे लिखा हिन्दी साहित्य मे शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द्र या कवि निराला का है। उन्होने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती सस्कृति का विरोध किया, जिसका विरोध उपन्यास व कविता के माध्यम से प्रेमचन्द्र व निराला ने किया। शुक्ल जी ने न तो भारत के रूढिवाद को स्वीकार किया न ही पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होने वाह्यजगत् और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य सिद्धान्तो की स्थापना की, और उनके आधार पर सामती साहित्य का विरोध किया एव देश भक्ति और जनतत्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया।[3]

आचार्य शुक्ल की आलोचना का आधार जहॉ एक ओर लोकवाद था वही दूसरी ओर परम्परा से ग्रहित विकसित जातीय साहित्य (बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर जायसी आदि) था। एक ओर यदि वे ज्ञान प्रसार के साथ भाव प्रसार के

---

1 रस मीमासा–नगरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय सस्करण सवत 2017 पृ०–69

2 रस मीमासा–नगरी प्रचारिणी सभा काशी तृतीय सस्करण सवत् 2017 पृ०–80

3 आचार्य शुक्ल ओर हिन्दी आलोचना–राजकमल प्रकाशन– दिल्ली–सशोधित सस्करण 1937–भूमिका–पृ०–7

सिद्धान्त को मानते थे तो दूसरी ओर साहित्य का उद्देश्य स्वार्थ सबन्धो के सकुचित मडल से ऊपर उठकर लोक सामान्य की भाव भूमि पर पहुँचना भी मानते थे।

प्रगतिशील आलोचना को आचार्य शुक्ल के लोकमगलवाद एव जातीय स्वत्व के सिद्धान्तो से बल मिला, जिससे वह समाजवादी यथार्थवाद की मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि का विकास कर सके। इस सदर्भ मे प्रेमचन्द्र, निराला, प्रसाद और नन्द दुलारे बाजपेयी का योगदान भी अविस्मरणीय है। इन चारो कृतिकारो के ऐसे प्रगतिशील मानदण्डो का पिछले अध्याय मे उल्लेख किया गया है। 'हस', 'इन्दू', 'मतवाला', 'भारत', 'माधुरी', 'जागरण', 'सुधा' आदि पत्रिकाओ मे ऐसे अनेक लेख एव टिप्पणियॉ उपलब्ध है जिनसे पता चलता है कि सन् 1930 और 1940 के मध्य, आलोचना का कायाकल्प हो रहा था। परन्तु इसका व्यवस्थित विकास सन् 1940 के बाद लिखित आलोचनात्मक कृतियो मे ही मिलता है। डॉ० राम विलास शर्मा, शिवदान सिह चौहान, चन्द्रबली सिह, अमृतराय, प्रकाश, चन्द्रगुप्त, राहुल साकृत्यायन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, रागेय राधव, रामेश्वर वर्मा, हसराज रहबर, मन्मथ नाथ गुप्त आदि को कृतियो, तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओ मे प्रकाशित साहित्यिक विवादो एव प्रगतिशील लेखक सध के घोषणा–पत्रो, अधिवेशनो के प्रस्तावो एव काव्य गोष्ठी परिसवादो के व्यवस्थित अध्ययनो से ही प्रगतिशील समीक्षा का सही रूप खडा होता है।

प्रगतिशील आलोचना के प्रमुख प्रतिमानो तथा उन प्रतिमानो को लेकर जो विवाद रहे है उन्हे सामने लाने के लिए यह आवश्यक है कि उन विषयो को छॉट ले, जिनके इर्द–गिर्द प्रगतिशील साहित्य चितन का विकास हुआ है। परन्तु यही हम भूमिका के रूप मे यह बतलाना भी आवश्यक समझते है कि हर विषय पर प्रगतिशील लेखको के बीच दो धाराओ का सघर्ष भी है और एकता भी है। अत इन धाराओ के सघर्षों के अध्ययन से ही यह पता चल सकता है कि– 'कुत्सित समाजशास्त्र', 'सकीर्णतावादी दृष्टिकोण', 'उदारवाद', 'भाववादी चितन' बुर्जुवा वर्ग का साहित्यक

प्रवक्ता' आदि आरोप जो प्रगतिशील साहित्य पर लगाये जाते है वे वास्तविकता है या विवाद के हथियार मात्र है।

इस प्रकार प्रगतिशील आलोचना के नये प्रतिमानो का विकास किस प्रकार हुआ, इसका अध्ययन हम निम्नशीर्षको के अन्तर्गत कर सकते है।

परम्परा और साहित्यिक विरासत का मूल्याकन साहित्य के इतिहास के प्रति हमारा दृष्टिकोण कोरा नकारात्मक हो या कोरा सकारात्मक हो या फिर द्वन्द्वात्मक हो, इस विषय को लेकर प्राय प्रगतिशील आन्दोलन के अन्दर पारस्परिक मतभेद है। मार्क्सवाद–लेनिनवाद सिद्धान्तो के आधार पर इस समस्या को लेकर जो वैचारिक मतभेद था वह सन् 1940 से प्रारम्भ होकर आज भी बना हुआ है। पश्चिम मे शिक्षा प्राय भारतीय रचनाकारो का दृष्टिकोण परम्परा भजन की ओर था, मध्यवर्गीय युवको का एक वर्ग जो स्वस्थ्य यौन नैतिकता का विरोध कर रहा था यूरोप से दादावाद, अतियथार्थवाद, फ्रायडवाद, प्रकृतिवाद आदि की जो धाराये आई, उनके प्रभाव से परम्परा भजन की प्रवृत्ति एक फैशन बन गयी थी। परिणामस्वरूप अराजकतावादी साहित्यिक परिवेश का निर्माण हो रहा था। साम्प्रदायिकता, पुनरूत्थान वाद, सामती समाज के पितृसत्तात्मक सस्कार और रूढिवाद से त्रस्त नौजवान यौन नैतिकता को तोडना ही क्राति समझ बैठे।

मध्यवर्ग के नवजवान उत्पीडित जनगण की मुक्ति से अपने को नही जोडते थे, फलत निम्न पूजीवादी भटकाव के आवेश मे वे इतिहास और परम्परा, समाज और यौन नैतिकता के विरूद्ध जेहाद बोल रहे थे। यही कारण था कि कुछ प्रगतिशील लेखक एक ओर जहॉ फ्रायडवाद की ओर अग्रसर हुए वही दूसरी ओर मार्क्सवाद की ओर कम आकृष्ट नही हुए। एक ओर जहॉ दादावाद, अतियथार्थवाद तथा इलियट–लारेस की ओर झुकाव होता था, वही दूसरी ओर मायकवस्की, गोर्की, राल्क

फाक्स एव कॉडवेल की ओर बढते थे। इस तरह के प्रगतिशील लेखक तुलसी दास को सामतवाद एव ब्राहमणवाद का चाकर मानते थे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचनात्मक मानदण्डो मे उन्हे एकागी समाजशास्त्र नजर आता था। वे छायावाद को पलायन वादी जनविरोधी साहित्य समझते थे। एसे लोग पुराने का विरोध और नये का समर्थन ही मार्क्सवादी विचारधारा समझते थे। सन् 1937 मे डॉ० शिवादान सिह चौहान ने प्रगतिशील समीक्षा के तथाकथित उस पहले निबन्ध मे लिखा था। "इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मिस्लिम लीग ने पहुँचाया हो।[1]

प्रगतिशील लेखक सघ के अन्दर इस प्रकार के विषय पर निश्चित रूप से दो धाराओ का सघर्ष था। एक समूह का रूझान परम्परा भजन की ओर था, वही दूसरे समूह का रूझान था कि अपनी मूल परम्परा, विरासत और सस्कृति का द्वन्द्वात्मक ढग से मूल्याकन किया जाय तथा मृत व जीवन्त तत्वो मे फर्क किया जाय, एव अपनी जन सस्कृति के निर्माण के लिये जीवत उपादानो को स्वीकार किया जाय। इन दो धाराओ के सघर्ष मे पहली धारा का प्रतिनिधत्व शिवदान सिह चौहान और रागेय राघव कर रहे थे तथा दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व राम विलास शर्मा, केदार नाथ, अग्रवाल, चन्द्रबली सिह, हसराज रहबर आदि कर रहे थे।

श्री राम विलास शर्मा जी ने अपने दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिए–कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रेमचन्द्र, आचार्य शुक्ल, निराला, प्रसाद आदि कृतिकारो का मूल्याकन किया और प्रगतिशील साहित्य को हिन्दी भाषी जाति के सास्कृतिक सत्व से जोडा। इन दोनो विचारधाराओ को ध्यान मे रखकर अनेक सैद्धान्तिक निबध

---

1 विशाल भारत–मार्च–57 भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता–प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य–रेख अवस्थी–1978–पृ०–278

लिखे गये। इस प्रसग मे 'साहित्य की परम्परा' नामक उनका निबध उल्लेखनीय है। मार्क्सवाद–लेनिनवाद के सैद्धान्तिक आलोक मे उन्होने लिखा–

इस सभी प्रश्नो को हल करने के लिए सुसबद्ध प्रगतिशील आलोचनात्मक चितन तथा हिन्दुस्तान के सदर्भ मे मार्क्सवाद सौन्दर्यशास्त्र का सृजनात्मक विकास आवश्यक कार्य थे। इसीलिये प्रगतिशील लेखक सघ के मच से मैक्सिम गोर्की द्वारा प्रतिपादित 'समाजवादी यथार्थवाद' का नारा दिया गया। समाजवाद और यथार्थवाद, राजनीति और साहित्य, मार्क्सवादी लेनिनवादी विचार धारा और सृजनात्मक साहित्य (लेखक के इन्द्रिय बोध, भाव विचार) इन दो प्रकार के तत्वो के बीच द्वन्द्वात्मक एकता से ही 'समाजवादी यथार्थवाद' स्वस्थ्य साहित्यिक अनुशासन का रूप ले सकता था।

श्री राम विलास शर्मा जी ने अपने दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिए– कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल, निराला प्रसाद आदि कृतिकारो का मूल्याकन किया और प्रगतिशील साहितय को हिन्दी भाषी जाति के सासकृतिक सत्व से जोडा। इन दोनो विचारधाराओ को ध्यान मे रखकर अनेक सैद्धान्ति निबन्ध लिखे गये। इस प्रसग मे 'सहित्य की परम्परा' नामक उनका निबध उल्लेखनीय है। मार्क्सवाद–लेनिन वाद के सैद्धान्तिक आलोक मे उन्होने लिखा–

"प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है, इसीलिये वह उसकी जातीय विरासत, उनकी साहित्यिक परम्पराओ की रक्षा करने के लिये भी लडता है। साम्राज्यवाद न सिर्फ जनता की स्वाधीनता का अपहरण करता है, उसके जनवादी अधिकारो को कुचलता है बल्कि उसकी जातीय सस्कृति, उसके राष्ट्रीय अभिमान, उसके पूर्व पूरूषो के अर्जित ज्ञान को झुठलाता और दबाता है। इसलिये जनता की जातीय सस्कृति की रक्षा और विकास के लिये सघर्ष उसकी स्वाधीनता और जनवादी अधिकारो के लिये सघर्ष का अभिन्न अग है।

हिन्दी भाषी जनता की एक गौरवशाली व प्राचीन परम्परा है। इस परम्परा का अभिमान करने मे एक तरफ तो भारतीय रूढिवाद बाधक होता है जो हर सास्कृतिक निधि का उपयोग महन्तो और जागीरदारो के हित मे करता है। उस सास्कृतिक निधि के निर्माण मे भारत की जनता का कितना हाथ है, इस बात को वह छिपाता है। दूसरी तरफ पश्चिमी पूँजीवाद का नस्ल सिद्धान्त है इसके अनुसार "वह निधि हमारे पूर्वजो की रचना नही, किसी विश्वव्यापी नस्ल की रचना है। जिस पर औरो का अधिकार भले हो पर हमारा अधिकार अवश्य नही है।[1]

जनता के साम्राज्यवाद विरोधी एव सामतवाद विरोधी सघर्ष से प्रगतिशील साहित्याकरो का क्या सबन्ध हो? इस प्रश्न पर भी प्रकाश पडता है चूँकि जातीय मुक्ति सग्राम के दौर से हिन्दुस्तान गुजर रहा था, और एक हद तक इस सदर्भ मे परिवर्तन अवश्य होता है परन्तु मूल स्थिति यथावत ही रहती है, अत जातीय परम्परा के सबन्ध मे उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रगतिशील एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। प्रगतिवाद के समानान्तर तत्कालीन हिन्दी साहित्य मे जो अन्य प्रवृत्तियॉ चल रही थी।

उनके सदर्भ मे भी अगर देखे तो पता चलता है कि 'साहित्य सर्जना', विवेचना, नामक अपने ग्रन्थ मे इलाचन्द्र जोशी कालिदास और चडीदास को व्यभिचार, दमित यौन वृत्ति एव स्वार्थ परायणता के चितेरे घोषित कर रहे थे, तथा त्रिशकु नामक अपने निबन्ध ग्रन्थ मे अज्ञेय परम्परा के सबन्ध मे यूरोप की पतनोन्मुख सस्कृति के व्याख्याता इलियट का दृष्टिकोण प्रचारित कर रहे थे। इस प्रकार प्रगतिवाद के अन्दर दो धाराओ के सघर्ष के एक प्रकार का दृष्टिकोण मूलत मार्क्सवाद विरोधी, जन विरोधी तथा प्रतिक्रियावादी था। जिन्हे भारतीय प्रगतिशील आलोचना के नये प्रतिमानो के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है।

---

1 प्रगतिशील साहित्य की समस्याये–पृ०–25–प्र०सस्करण।

समाजवादी यथार्थवाद–तत्कालीन सृजनात्मक साहित्य को जन जीवन से जोडने तथा कृतिकारो को रचनाशीलता की दिशा बतलाने के लिये साहित्य के प्रगतिशील मानदण्ड स्पष्ट करने का कार्य भार आलोचको पर था। प्रगतिशील लेखक सघ के सामूहिक घोषणपत्र एव व्यक्त वैचारिक स्तर पर लेखको को शिक्षा–निर्देश दे रहे थे। पर सृजन स्तर पर मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि के मानण्डो को लागू करना उतना सरल भी नही था। अत समकालीन रचना के आस्वादन और मूल्याकन से ही इस समस्या का हल निकल सकता था। इसलिये तत्कालीन प्रगतिशील लेखको ने सभी प्रकार के साहित्य सृजन की समीक्षा का भी कार्य आरम्भ किया।

प्रगतिशील लेखको के सामने साहित्य की वस्तु और उसके रूप के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या भी कम महत्वपूर्ण न थी। यथार्थ और गतिशील यथार्थ, यथार्थ के पतनशील तत्व और जीवन तत्व, फोटो ग्राफिक या प्रकृतवादी चित्रण, आलोचनात्मक यथार्थवाद, क्रान्तिकारी रौमेन्टिसिज्म, छायावादी पतनशील रूमानियत तथा समाजवादी यथार्थ–इन सबके बीच रचनात्मक स्तर पर सही के चुनाव और गलत के त्याग का प्रश्न भी था।

इन सभी प्रश्नो को हल करने के लिए सुसबद्ध प्रगतिशील आलोचनात्मक चितन तथा हिन्दुस्तान के सदर्भ मे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का सृजनात्मक विकास आवश्यक कार्य थे इसीलिये प्रगतिशील लेखक सघ' के मच से मैक्सिम गोर्की द्वारा प्रतिपादित 'समाजवादी यथार्थवाद' का नारा दिया गया। समाजवाद और यथार्थवाद, राजनीति और साहित्य, मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा और सृजनात्मक साहित्य (लेखक के इन्द्रिय बोध, भाव विचार) इन दो प्रकार तत्वो के बीच द्वन्द्वात्मक एकता से ही 'समाजवादी यथार्थवाद' स्वस्थ्य साहित्यिक अनुशासन का रूप ले सकता था। और उसे भारत वर्ष को ठोस परिस्थितियो तथा जातीय सास्कृतिक विधि प्रगतिशील उत्पादनो से सयुक्त कर प्रगतिवादी आन्दोलन को आगे बढाने की आवश्यकता थी

प्रगतिवाद ने इस दिशा मे एक सीमा तक सफलता अवश्य प्राप्त की, परन्तु उसकी विफलताओ ने भी आगे के साहित्याकारो के लिए एक सबक छोड दिया।

समाजवादी यथार्थ सर्वहारा क्राति का सहित्य होता है राष्ट्रवाद जनवादी क्राति की मजिल मे सर्वहारा वर्ग की भूमिका होती है। परन्तु वह सर्वहारा क्राति नही होती। अत प्रगतिवादी साहित्यिक आन्दोलन के दौरान सर्वहारा वर्ग, किसान समुदाय तथा उत्पीडित मध्यम वर्ग– इन तीनो की एकता को ध्यान मे रखकर राष्ट्रवादी, जनवादी एव समाजवादी तीनो प्रकार के लेखको और उनके दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर समाजवाद के गतिशील यथार्थ के चित्रण पर जोर दिया गया। न कि मात्र समाजवादी यथार्थवाद पर। प्रतिक्रियावादी साहित्य को चुनौती देने वाले प्रगतिशील साहित्य के लेखन, आस्वादन और प्रचार पर जोर दिया गया। उस समय समाजवादी यथार्थवादी का नारा देना एक ऐतिहासिक कार्य था, चूँकि सोवियत सघ मे सर्वहारा क्राति हाने के बाद उसके समाजवादी लेखको ने समाजवादी सस्कृति के निर्माण के लिये सन् 1934 के लेखको के अधिवेशन मे गोर्की द्वारा प्रतिपादित समाजवादी यथार्थवाद को स्वीकार कर लिया था। यह उल्लेखनीय है कि रूसी साहित्यकारो के लिये समाजवादी यथार्थवाद की धारा ही निर्णायक और एकमात्र स्वीकार्य धारा थी। परन्तु भारतीय लेखको के लिये आलोचनात्मक यथार्थवाद, क्रान्तिकारी रोमैंटिसिज्म तथा समाजवादी यथार्थवाद ये तीनो ही धाराये एक निश्चित दूरी तक स्वीकार्य थी। ऐसी स्थिति मे कलात्मक मानदण्ड के नाम पर केवल समाज वादी यथार्थवाद का नारा देने वाले शिवदान सिह चौहान ने प्रगतिवाद आलोचना की सारी कसौटी गैर भारतीय विश्वप्रसिद्ध कृतियो को बनाना चाहा। इस मुद्दो को भी लेकर प्रगतिशील आन्दोलन के भीतर दो दृष्टिकोण पनप रहे थे। शिवदान सिह चौहान से भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले कृतिकारो ने जातीय सस्कृतिनिधि से कलात्मक सीख लेने की आवाज उठाई और प्रगतिशील क्लासिक कृतियो की प्रासगिकता बतलाई। इन दो दृष्टिकोणो के

सघर्ष मे तत्कालीन लेखको की यथार्थवादी रचनाओ से प्रगतिशील लेखको को सीख लेनी चाहिए। यथार्थ के उद्घाटन की उनकी शक्ति का 'समाजवादी यथार्थवाद' की दृष्टि से गुणात्मक विकास होना चाहिए। यह आग्रह धीरे–धीरे प्रबल होता चला गया, और अन्त मे प्रगतिशील लेखको के लिए–उपन्यासकार प्रेमचन्द्र, प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, कवि निराला, पत व समालोचक आचार्य शुक्ल प्रासगिक हो उठे।

इन भारतीय साहित्यकारो के बाद विश्व साहित्य के स्तर पर चेखब, तेलेस्तोय, गार्की, फादेयेव, कॉडवेल, राल्फफाक्स, आदि लेखको की कृतियो का अध्ययन इन दौरान बडी तेजी से हुआ। साथ ही श्रेष्ठ रचनाओ का हिन्दी मे अनुवाद जोरो से प्रकाशित होने लगा।

जातीय और अन्तर्जातीय, प्राचीन और समकालीन जनवादी और समाजवादी इन दोनो के बीच के अनतर्विरोध का हल निकालकर ही प्रगतिशील समीक्षा कलात्मक मानदण्डो का निर्माण कर सकती थी। इस सिलसिले मे भी शिवदान सिह चौहान और राम विलास शर्मा, की दिशा मे सघर्ष के तत्व विद्यमान थे। इन सघर्षो का परिणाम यह हुआ कि शिवदान सिह चौहान ने समाजवादी यथार्थवाद के कलात्मक मानदण्डो की सैद्धान्ति प्रस्थापनाओ के लिये विश्व प्रसिद्ध कृतिओ को सदर्भ ग्रन्थ के रूप मे ही नही, वरन आधार के रूप मे स्वीकार किया। तथा अनेक महतवपूर्ण कृतियो की विश्लेषणात्मक छानबीन के द्वारा सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकाले, जो प्रगतिशील समीक्षा के ऐतिहासिक विकास के लिए अत्यावश्यक थे। इस प्रसग मे राहुल सास्कृत्यायन, भगवत शरण उपाध्याय और मुक्तिबोध की समीक्षा कृतियो का भी बडा महत्व है। इन दो लाइनो के सघर्ष मे शिवदान सिह द्वारा लिखित 'भारत की जन नाट्यशाला' (1936) शीर्षक सुदीर्घ निबन्ध का ऐतिहासिक महत्व है। क्योकि नाटक व रगमच को 'समाजवादी यथार्थवाद' के कलात्मक मानदण्डो के अनुसार व्यवहारिक रूप मे ढालना एक जटिल और महत्वपूर्ण प्रश्न था। जिसे हल करने मे शिवदान सिह चौहान ने

काफी हद तक सही आधार अपनाया।

साहित्य को व्यापक बनाने के लिये स्वाभाविक स्वस्थ्य ऐद्रियता और शारीरिक आनन्द की व्यजना अनिवार्य है। परन्तु पतनशील वर्ग की कामुकता, भोगवादी लालसा और निष्क्रिय निकम्मे अवकाश भोग के चित्रण से यदि कोई रचनाकार 'एन्द्रिय उल्लास' की व्यजना करता है, तो वह निश्चित रूप से प्रतिक्रातिकारी वर्ग और अभिरूचि का शिकार हो गया है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य, छायावाद, अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी आदि के सेक्स चित्रण आदि पर प्रगतिशील समीक्षा मे इन्ही कारणो से प्रहार किया था। 'कामायनी एक पुर्नविचार' नामक पुस्तक मे मुक्तिबोध ने मनु की विलासी कामरूचि के प्रसाद कृत वर्णन मे हमेशा सामती पतनशील रूझान को रेखाकित किया है। दूसरी ओर त्रिलोचन की पुस्तक– 'धरती' की समीक्षा मे मुक्तिबोध का आलोचक ग्राम प्रकृति के चित्रण की ऐद्रियता मे स्वभाविक ऐद्रिय उल्लास और प्रेममयी दृष्टि को उभार कर सामने लाता है। यही स्थिति निराला पर लिखित राम विलास शर्मा की पुस्तक की भी है।

केवल विचार के आधार पर किसी रचनाकार के कृतत्व का मूल्याकन हो, या साहित्य के समाज सापेक्ष कलात्मक मानदण्डो से भी उसका सम्बन्ध हो? इस प्रश्न पर प्रगतिशील समीक्षको के बीच दो दृष्टिकोण रहे है। एक दृष्टिकोण के अनुसार अगर कोई लेखक खुले तौर पर व्यवस्था का समर्थन और प्रतिक्रियावादी विचारधारा का प्रचारक है तो उसे निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी कहना चाहिए। परन्तु अगर लेखक समाजवादी विचराधारा को अपने साहित्य मे प्रचार करता है और भाव इन्द्रिय बोध आदि के कलात्मक चित्रण की दृष्टि से वह कमजोर है, फिर भी उसे प्रगतिशील और श्रेष्ठ करार देना चाहिए। डा० रामविलास शर्मा ने इस दृष्टिकोण के विरूद्ध सघर्ष चलाया। उनकी मान्यता यह रही है कि गलत विचारो के वावजूद कोई लेखक श्रेष्ठ कलाकृति दे सकता है। तोलस्तोय के सबध मे लिखित लेनिन के पाच निबध भी इसी

दृष्टिकोण को समर्थन करते है। अत विचारक की हैसियत से अगर कोई लेखक प्रतिक्रियावादी फलसफा देता है तो आलोचक के नाते उस फलसफे को कूडा समझकर फेक देना चाहिए। और भाव इन्द्रियबोध चित्रण के आधार पर कृति का मूल्याकन होना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से डा० रामविलास शर्मा ने कालिदास, तुलसीदास, निराला और प्रसाद का मूल्याकन किया है। सुमित्रानन्दन पत के 'पल्लव' 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या' आदि काव्य सग्रहो का मूल्याकन भी इसी आधार पर हुआ है। परन्तु 'सवर्णधूलि', 'स्वर्णकिरण' मे न तो कलात्मक चित्रण है न इतिहास की अग्रगामी शक्तियो का वर्णन है। सन् 1948 मे लिखित अपने निबन्ध मे राम विलास शर्मा ने इस कृति की कुठित सौन्दर्य दृष्टि और प्रतिक्रियावादी अन्तर्वस्तु को उघाडकर सबके सामने रख दिया। तुलसीदास की अवतारवादी रामोपासना भक्ति देखकर रागेयराघव, यशपाल आदि ने उन्हे प्रतिक्रियावादी कहा, पर रामविलास शर्मा जी का तर्क है" "तुलसीदास केवल भक्त ही नही थे, वे प्रेम व सौन्दर्य के भी कवि है। विवाह मडप मे सीता की तन्मयता का कितना सजीव बारीक चित्रण उन्होने खीचा है–

'राम को रूप निहारति जनकी, कगन के नग की परिछाही
या ते सबै सुधि भूलि गयी, कर टेकि रही पलटारति नाही।[1]'

(कवितावली)

इसके अतिरिक्त अपने बरवै छन्दो मे तो मानो तुलसीदास ने अवध के ग्रामगीतो की सारी मिठास उडेल दी है। तुलसीदास ने जनसाधारण के सौन्दर्यबोध की जैसी सुकुमार व्यजना की है वह हिन्दी साहित्य के अनुपम है।[2]

'समाज और साहित्य' नामक ए सुदीर्घ निबन्ध मे मुक्तिबोध ने भी तुलसी के

---

1 तुलसी दास कृत कवितावली से उद्धृत
2 प्रगतिशील साहित्य की समस्याये–पृ०–174

सदर्भ मे यही दृष्टिकोण रखा है।[1] इससे स्पष्ट है कि केवल विचारधारा के आधार पर कृतित्व का मूल्याकन गलत है। इतिहास के अग्रगामी वर्ग के सौन्दर्य बोध का चितेरा बने बिना कोई कृतिकार न तो इन्द्रियबोध का ही सही चित्रण कर सकता है और न भाव का। अत सापेक्ष सौन्दर्य दृष्टि की समाजवादी यथार्थवाद के कलात्मक मानदण्ड का आधार है।

यौन नैतिकता का चित्रण प्राय प्रगतिशील आलोचना के पहले से ही साहित्यकारो के बीच स्त्री–पुरूष सम्बन्धो के चित्र को लेकर दो विचारधाराये रही है। जिनकी चर्चा विषयेतर विषय होगा। परन्तु प्रगतिशील लेखक इस सामाजिक समस्या पर कौन सा दृष्टिकोण अपनाये, इसको लेकर काफी नोकझोक व वैचारिक सघर्ष चला। 'नया साहित्य और नारी' नामक अपने साहित्य निबन्ध मे हसराज रहबर ने इस सघर्ष का सारतत्व प्रस्तु किया। इस समस्या ने प्रगतिशील आन्दोलन के अन्दर गभीर रूप इस लिये धारण कर लिया कि कुछ ऐसे भी लेखक थे जो मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के बीच मेल करना चाहते थे। 'अगारे' नामक कहानी सग्रह मे भी यह प्रवृत्ति थी। इसके अलावा सज्जाद जहीर के नाटक 'बीमार', यशपाल के उपन्यास 'दादा कामरेड' मटो की कहानी 'बू', कृश्न चदन की कहानियॉ 'तिरगी चिडिया', हुस्न और हेवान' 'दर्दे', 'चिडिया का गुलाम', अचल के उपन्यास 'चढती धूप' 'अश्क के उपन्यास' 'गिरती दीवारे' 'नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' आदि को लिखित कर अज्ञेय–जैनेन्द्र–अलाचन्द्र जोशी– यह कहते थे कि प्रगतिशील आन्दोलन भी तो उसी फ्रायडवादी रास्ते पर चल रहा है। प्रगतिशील आन्दोलन के अन्दर और बाहर के कुछ कृतिकारो की नजर मे नारी समस्या एक जैसी थी और वे यौन नैतिकता के मामले मे अराजकतावादी प्रकृतवादी अथवा दिगम्बरवादी दृष्टिकोण अपना रहे थे। ये दोनो प्रकार के लेखक शरदचन्द्र–रवीन्द्र नाथ टैगोर, प्रेमचन्द्र आदि के नारी चित्रण

---

[1] नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र–पृ०–124-125

को आदर्शवाद कहकर' पूरी तरह नकारते थे। इनके लिये जोला, फ्लावेयर लारेंस की परम्परा ही यथार्थवादी परम्परा थी। प्रगतिशील लेखकों के बीच इस संदर्भ में हंसराज रहबर ने मार्क्सवादी लेनिनवादी दृष्टिकोण रखते हुए स्टैंड लिया। उनका दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही यह रहा है–

'नारी भी एक समाजिक प्राणी हैं समाज के साथ उसके अनेक संबन्ध है। उनमें एक यौन सम्बन्ध भी है, जो किसी विशेष परिस्थिति में महत्वपूर्ण हो सकता है। लेकिन हर एक परिस्थिति में इसी सम्बन्धों को उभारना और उसे ही विशेष महत्व प्रदान करना यथार्थ नहीं अयथार्थ है, छूठ है, नारी के साथ अन्याय है। साथ ही यह उसका अपमान है।[1]'

यशपाल, मुल्कराज, नारोत्तमनागर, कृश्न चन्दर आदि यौन चित्रण के प्रश्न पर कहीं न कहीं फ्रायडवादी दृष्टिकोण के प्रभाव से ग्रस्त थे। ऐसी स्थिति में हंसराज रहबर, चन्द्रबली सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, अमृतराय आदि सामाजिक यथार्थवादी अथवा प्रगतिशील दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। 'साहित्य और नारी समस्या' नामक अपने निबन्ध में डा० रामविलास शर्मा ने दूसरे पक्ष के दृष्टिकोण की स्पष्टता के लिये मार्क्स–ऐंगेल्स–लेनिन की विचारधारा की रोशनी में साहित्य का विश्लेषण किया। इसके अतिरिक्त यशपाल की पुस्तक 'मार्क्सवाद' में लेनिन का नाम लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि मार्क्सवाद लेनिनवाद 'स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीने के सिद्धान्त को ही स्त्री–परूष संबन्धों के मामले में मानता है। स्त्री–पुरूष सम्बन्ध शरीर की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की ही तरह है। यशपाल के इस भ्रामक दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए राम विलास शर्मा ने लिखा–

"लेनिन ने उसके ठीक उल्टी बात कही थी। स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीने की थ्योरी का घोर विरोध किया था। यशपाल का जोर इस बात पर है कि भोग

---

[1] प्रगतिवाद : पुर्नमूल्यांकनं–पृ०–212

को पेशा न बनाया जाय। भूख प्यास, नीद की तरह सेक्स की भी इच्छा पूरी होनी चाहिए। परन्तु गदी नालियो मे मुह डाल कर नही। वास्तव मे स्वच्छ गिलास मे स्वच्छ जल पीने का सिद्धान्त सेक्स के बारे पूजीवादी सिद्धान्त है, जिसे धनी लोग नित्यप्रति प्रयोग मे लाते है।'[1]

अपने इस विचार की पुष्टि के लिए डा राम विलास शर्मा ने लेनिन तथा क्लारा जैटकिन की बातचीत का हवाला देने वाली नोटबुक का उल्लेख किया है और साहित्य मे नारी समस्या के चित्रण को लेकर अपनी स्थापनाओ को वही से ग्रहण किया है। "जिस तरह मुक्त प्रेम के फ्रायडवादी प्रचारक इलाचन्द्र जोशी अज्ञेय और जैनेन्द्र इस समस्या को देखते थे उससे खाडी भिन्नता दर्शाते हुए भी यशपाल, कृष्णन चन्दर, अचल आदि पूजीवादी नैतिकता के ही शिकार प्रतीत होते है। अत प्रगतिशील लेखक सघ के अदर इस प्रश्न पर निम्न पूजीवादी भटकाव से लडना आवश्यक था। रामविलास शर्मा का यह कथन सत्य था कि– 'यशपाल नारी पराधीनता के वैसे चित्र भी नही दे पाये जैसे प्रेमचन्द्र ने पहले विश्वयुद्ध के समय दिया था या वृन्द्रावन लाल वर्मा ने 'लगन' 'कुडली चक्र' आदि मे तथा निराला ने 'अलका' आदि मे दिये है। यशपाल के उपन्यास नारी पराधीनता के सवाल को यथार्थवादी ढग से छूते ही नही है।"[2]

इस प्रश्न पर 'पतितो के देश मे' नामक अपने लघु उपन्यास मे वेनीपुरी ने वर्गीय अन्तर्वस्तु के साथ प्रकाश डाला। उसे भी यशपाल ने नही देखा। इसके साथ ही 'मदारी' नामक लघु उपन्यास मे पहाडी अनचल के भूमिहीन परिवार के स्त्री सम्बन्धो पर जिस तरह जनवादी ढग से वर्गीय अन्तर्वस्तु को सामने लाया गया था, उसे भी प्रगतिशील कथाकारो ने नजर से ओझल कर दिया था। अत मार्क्सवादी

---

[1] प्रगतिशील साहित्य की समस्याये–पृ०–119

[2] वही पृ०–121

लेनिनवादी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओ के सारतत्व को नर–नारी सम्बन्धो के सन्दर्भ मे, फिर से कहना आवश्यक था। यह भी कहना आवश्यक प्रतीत हुआ कि सन् 1940 के बाद प्रगतिशील लेखक सध के अन्दर इस प्रश्न पर चर्चा आरम्भ हो गयी थी, परन्तु इस चर्चा मे प्रगतिशील लेख–सघ के भिवडी अधिवेशन मे उग्र रूप धारण कर लिया। इस दौर मे लेनिन सबन्धी क्लारा जेटकिन की सस्मरणात्मक नोट बुक का लेखको के बीच बडे जोर से प्रचार इस लिये हुआ कि फ्रायडवाद के विरोध मे यह एक क्रातिकारी हथियार का काम करने वाली पुस्तिका थी। अत यहा लेनिन के विचारो को सूत्र मे प्रस्तुत करना समीचीन है।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे यूरोप के नौजवान बुद्धिजीवियो पर फ्रायड का असर था और यह असर रूस के नौजवानो पर भी पड रहा था, ये नौजवान 'मुक्त प्रेम' की पूजीवादी नैतिकता की मॉग कर रहे थे। इसके लिए वे तरह–तरह के आकर्षक तर्क दे रहे थे। लेनिन ने ऐसे युवको का निशाना बना कर यह कहा–सभी पीलो चोच वाले जूजे जो अभी मुश्किल से पूजीवादी ख्याल के अडे मे से निकले है भयानक रूप से बुद्धिमान है।"[1] इस तरह के फैशन परस्त युवा बुद्धिजीवियो को 'मुक्त प्रेम' के साहित्य चित्रण मे रस मिलता है वर्ग सस्कारो के कारण मार्क्सवादी युवा बुद्धिजीवी भी इस प्रवृत्ति के शिकार थे। अत लेनिन ने सर्वहारा नैतिकता को ध्यान मे रखकर, समाजवादी सस्कृति की नैतिक धारणाओ को स्पष्ट किया, जो इस प्रकार है–"बावजूद इसके कि 'गिलास भर पानी' के सिद्धान्त पर 'उन्मुक्त प्रेम' का खूबसूरत लेवुल लगा हुआ है, एक कम्युनिष्ट की हैसियत से वह मुझे जरा भी पसद नही है। इसके अतिरिक्त न तो वह नया है और न कम्युनिष्ट शायद आप को याद हो कि पिछले शताब्दी के मध्य मे 'हृदय की मुक्ति' के रूप मे इस सिद्धान्त का ललित साहित्य मे प्रचार किया गया। पर पूजीवादी व्यवहार मे वह शरीर की मुक्ति बन

1 लेनिन– नारी मुक्ति नामक पुस्तिका–प्रगति प्रकाशन –मास्को–पृ०–135

गया।"[1] लेनिन के अनुसार– प्रेम जहा एक ओर व्यक्तिगत मामला है, वही प्यार मे दो भागीदार होते है और दोनो के सहयोग से एक तीसरे जीवन का निर्माण सभव होता है। यही पर सामाजिक हित निहित है, यही समष्टि के प्रति कर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है।[2] इस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद, क्रान्तिकारी रोमाटिसिज्म और आलोचनात्मक यथार्थवाद इन तीनो धाराओ के लेखक प्रेम के 'व्यक्तिगत और सामाजिक' दोनो पहलुओ को एक साथ उठायेगे, विशिष्ट और सामान्य की द्वद्वात्मक एकरूपता तथा सघर्ष का कलात्मक चित्रण करेगे। ऐसी रचनाओ मे नायक नायिकाओ को स्वरूप न तो 'योगी का होगा, न ही रतिराज का और न ही सामती पूजीवादी पाखण्ड मे लिप्त दकियानूस' का। वैवाहिक रूढियो तथा पितृसत्तात्मक समाज के तमाम बधनो से स्त्री पुरूष के 'प्रेम' को तभी सच्चे प्रेम मे बदला जा सकता है जब 'निजीसपत्ति की समाप्ति होगी और इस क्षेत्र मे स्त्री–पुरूष को समान अधिकार मिलेगा। जब सामन्तवाद पूजीवाद और राजसत्ता के रूप मे उनकी तमाम अभिव्यक्तियो का उन्मूलन हो जायेगा। अत मूल प्रश्न शोषण पर आधारित इस व्यवस्था को मिटाने का है। नारी पराधीनता का यथार्थवादी उद्घाटन नारी जागरण, महिला सघो के सघर्ष, किसान मजदूर वर्ग के सघर्ष कि क्रान्तिकारी उभार आदि के सदर्भ मे ही हो सकता है। सामाजिक अस्तित्व के प्रति सजगता से ही स्त्रियॉ मातृत्व की दुनिया से निकलकर सामाजिक मातृत्व की दुनिया मे पहॅुच जाती है।[3] युवती युवतियो को 'व्यक्तिपरक मानसिक सकीर्णता' से निकालने के लिए प्रगतिशील लेखको का यह आवश्यक कार्य भार था कि वे क्रातिकारी जन आन्दोलन के बीच से ऐसे चरित्र उभारते, जिनकी साधारण यौन अभिरूचि परिस्कृत होकर प्रेम का रूप ले लेती और जो इस प्रेम के रास्ते मे बाधक तथा सौन्दर्यबोध को कुठित करने वाली सामती

---

1 लेनिन– 'नारी मुक्ति' नामक पुस्तिका–प्रगति प्रकाशन –मास्को–पृ०–138

2 लेनिन– नारी मुक्ति'–प्रगति प्रकाशन –मास्को–पृ०–138

3 लेनिन– 'नारी मुक्ति'–प्रगति प्रकाशन –मास्को–पृ०–138

पूजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था को चकनाचूर करने की दिशा मे क्रातिकारी जन सघर्ष से अपने को जोड लेती परन्तु प्रगतिशील लेखको मे से कुछ लोगो ने 'अपने पात्रो के लिए एक प्रेम कहानी से दूसरी प्रेम कहानी पर झपटने' का रास्ता अपनाया। लेनिन ने ठीक ही कहा था कि– 'यौन जीवन मे उत्श्रृखलता पूजीवाद है, वह अध पतन का लक्षण है। सर्वहारा उठता हुआ वर्ग है। उसे अनुभूमि शून्य अथवा उत्तेजित बनाने वाले किसी नशे की जरूरत नही है।[1]' यह ध्यान देने की बात है कि हसराज रहबर जैसे लेखक भी 'उन्मुक्त प्रेम' के इस पूजीवादी नशे के शिकार हो गये। परन्तु मार्क्सवाद लेनिन वाद के प्रकाश मे जब उन्होने अपनी गलती महसूस की तो वे एक इमानदार कम्युनिष्ट की तरह आत्मालोचना करने से नही चूके। रहबर जी ने स्वीकार किया है कि– "मै समाजवादी था, लेकिन मेरे चितन मे जो समाजवाद विरोधी तत्व थे मै एक अरसे तक उन्हे ही प्रगतिशील मानता रहा हूँ सन् 45 मे मैने एक कहानी 'ब्याह' लिखी उसमे कबूतर कबूतरी को प्रतीक बनाकर मैने विवाह सस्था का विरोध किया और यह दिखाया कि जिस तरह कबूतरी मुक्तरूप से प्रणय करते है, पुरूष व नारी भी करे। यह विशुद्ध रूप से यौन सबन्धो मे अराजकता का प्रतिपादक फ्रायडवादी विचाराधारा है। जिसके बारे मे उस समय तक मैने कुछ भी नही पढा था और शायद इसी लिये यह भी कहा जा सकता है कि यह मेरा 'मौलिक व स्वतत्र चितन था। परन्तु अपने उस मौलिक चितन पर नाज के बजाय मुझे अब शर्म महसूस होती है।"[2]

सेक्स चित्रण के प्रश्न पर प्रगतिशील आलोचना के अन्दर किस प्रकार दो धाराओ का सघर्ष था और उस सघर्ष मे सन् 1945 मे लिखित उपर्युक्त कहानी 'ब्याह' की प्रशसा यशपाल के द्वारा की गयी थी इससे स्पष्ट है कि उस समय यशपाल के दृष्टिकोण के विरूद्ध डा० रामविलास शर्मा का दृष्टिकोण कितना सटीक था।

---

1 लेनिन– नारी मुक्ति'–प्रगति प्रकाशन' –मास्को–पृ०–138

2 प्रगतिवाद पुर्नमूल्याकन– पृ०–101

साम्राज्यवाद विरोधी और सामन्त विरोधी प्रगतिशील साहित्य की पिछली जातीय उपलब्यिो की दृस्टि से भी अगर देखा जाय तो पता चलता है कि निराला, प्रेमचन्द, आचार्यशुक्ल आदि ने रीति के नायक नायिका भेद वाले साहित्य का विरोध किया था। इस प्रकार यथार्थ चित्रण के नाम पर यौन उन्मुक्तता (सामन्ती पूजीवादी उन्मुक्तता) का समर्थन कदापि नही किया जा सकता है।

प्राय प्रगतिशील साहित्य को प्रतिक्रियावादी लेखको व समीक्षको की ओर से 'राजनीतिक प्रचार' अथवा 'प्रोपेगडा' कहकर कुख्यात करने की कोशिश की गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि वे साहित्य के वर्गीय अन्तर्वस्तु से दूर भागते थे बल्कि उसमे से कुछ तो वर्ग सहयोग का साहित्य लिखते थे। अत प्रगतिशील आलोचना के सामने यह मुख्य दायित्व था कि वह आरोप प्रत्यारोप, कटुवाक और आक्रमण प्रति आक्रमण के उस साहित्य परिवेश मे प्रगतिशील साहित्य और सैद्धान्तिक आधार पर खडा करे।

'प्रगतिशील आलोचना ने एक सीमा तक इस दायित्व को पूरा किया। वह मार्क्सवाद के इस बुनियादी उसूल को लेकर चली कि दार्शनिको ने विभिन्न विधियो से विश्व की केवल व्याख्या ही की है, लेकिन प्रश्न तो विश्व को बदलने का है। अत यह कहा गया है कि साहित्य समाज का दर्पण नही बल्कि समाज को बदलने का अस्त्र है। इसी आधारभूत स्थापना के आलोक मे ही राम विलास शर्मा ने 'साहित्य का उद्देश्य' नामक प्रसिद्ध लेख लिखा। प्रगतिवादी आन्दोलन के दौरान साहित्य को नये सिरे से परिभाषित करना आवश्यक था। क्योकी समीक्षा मे एक ओर जहाँ सामती रूढिवादी आग्रहो से ग्रसित रसवादी प्रतिमान प्रचलित थे, वही दूसरी ओर निरपेक्ष ढग से साहित्य के गुण दोषो की परख का प्रचलन था। तीसरी ओर व्यक्तिवादी चितन धारा अथवा अनेक प्रकार की भोगवादी विचारधाराओ की ओर से खतरा था। इस खतरे को नजर अदाज करते हुए प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखक सघ के प्रथम

अधिवेशन मे यह कहा था कि 'साहित्यकार स्वभावत प्रगतिशील होता है।' वर्ग समाज मे दो वर्गो के हितो का परस्पर टकराव है, वर्ग विरोध है, और उत्पादन शक्तियो तथा उत्पादन सम्बन्ध के बीच अन्तर्विरोध तीव्र होने की वजह से वर्ग सघर्ष भी तीव्र हो रहा है। अत लेखक निरपेक्ष रूप से प्रगतिशील होता है। यह दृष्टिकोण भ्रामक माना गया। सामाजिक विकास के मूलभूत नियम अर्थात द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को न पहचानने के कारण ही यह भ्रम उत्पन्न हुआ था। ऐसी स्थिति मे रामविलास शर्मा ने साहित्यकार की प्रगतिशीलता और समालोचना की प्रगतिशीलता की व्याख्या की, 'न तो साहित्यकार स्वभावत प्रगतिशील होता है न आलोचक। वे प्रगतिशील तभी होते है जब जनसाधारण का पक्ष लेते है'[1] साहित्य की प्रगतिशीलता सापेक्ष या निरपेक्ष यथार्थ का चित्रण मात्र है या गतिशील यथार्थ का चित्रण इन प्रश्नो पर प्रगतिशील समीक्षा मे दो धाराओ का सघर्ष बहुत स्पष्ट रूप से चलता रहा है। डा० शिवदान सिह चौहान का तर्क है–

"किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकार की प्रतिभा, इमानदारी और उनके कृतियो की कलात्मक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि जाच करके देखा जाय कि अपने जीवनकाल की ऐतिहासिक परिस्थितियो द्वारा प्राप्त अनिवार्य विचार सीमाओ के होते हुए भी उन्होने सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तुनिष्ठा से अपने युग जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त चित्रण किया।"[2]

इस कसौटी पर अगर जैनेन्द्र और अज्ञेय को कसे तो वे भी महान 'श्रेष्ठ' और 'यथार्थवादी' दिखाई देते है। ऐसा इस लिये कि शिवदान सिह चौहान 'सत्यान्वेषी वस्तुनिष्ठ' और 'युगजीवन की वास्तविकता' को निरपेक्ष बना देते है। अत साहित्य की

---

1 प्रगतिशील साहित्य की समस्याये डा० रामविलास शर्मा– पृ०–4

2 साहित्य की परख– डा० रामविलास शर्मा– प्रथम सस्करण आत्मा राम एण्ड सस दिल्ली–1

परख के लिये प्रगतिशील समीक्षा को ऐसा प्रतिमान उपस्थित करना था, जिस पर हर चीज सापेक्ष ढग से कसी जा सके। इस लिए डा० रामविलास शर्मा की यह मान्यता युक्तियुक्त प्रतीत होती है। "इस युग जीवन की वास्तविकता अखण्ड इकाई नही है। कोई भी युग सत्य द्वन्द से परे नही होता। आज के युग का सत्य यह है, कि एक तरफ जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए सघर्ष कर रही है, दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकते और उनके हिमायती उसे दबाने और उसे गुलाम बनाये रखने की कोशिश कर रहे है। इस द्वन्द्व मे कलाकार किसी अद्वैत युगसत्य का सहारा न लेकर जनता या उसके विरोधियो का पक्ष लेता है। इसी लिए स्वभावत प्रगतिशील न होकर उसे युग विशेष और समाज विशेष के सघर्ष मे जनता का पक्ष लेने पर ही प्रगतिशील कहा जा सकता है।"[1]

जनसामान्य के सघर्ष और युग विशेष की सामाजिक हलचलो का मूर्त चित्रण करने वाली कृतियो का साहित्य मूल्य है या नही– इस प्रश्न पर हिन्दी के सभी रूढिवादी, व्यक्तिवादी और प्रतिक्रयावादी लेखक एक स्वर से कह रहे थे कि ऐसी रचनाये प्रोपेगैडा है, इनका साहित्य मूल्य नही है, इलाचन्द्र जोशी ने तो इसी तर्क पर सपूर्ण प्रगतिशील आन्दोलन के विरूद्ध जेहाद बोल दिया। 'साहित्य सर्जना' नामक उनकी पुस्तक मे अनेक स्थलो पर प्रगतिवाद का जबरदस्त विरोध किया गया। 'क्या साहित्य प्रोपेगैडा है? शीर्षक निबन्ध मे शिवदान सिह चौहान ने इलाचन्द्र जोशी के तमाम आरोपो का खडन किया और कहा कि सभी तरह का साहित्य एक तरह से प्रोपेगैडा ही है। फर्क यह है कि पहले के लेखक 'दो परस्पर विरोधी अवस्थाओ से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व से बचे रहते थे। उन युगो के वर्गो का सघर्ष अपने ऐतिहासिक विकास की उस प्रारम्भिक अवस्था अथवा मध्य अवस्था मे था जब लेखक या कलाकार के सामने दो मे से एक वर्ग का दामन पकडना अनिवार्य न हो गया था।

---

[1] प्रगतिशील साहित्य की समस्याये–पृ०–6

अत प्रगतिवादियो ने यदि किसी साहित्य को प्रोपेगैडा माना है तो इसी अर्थ मे किसी दूसरे अर्थ मे नही।[1]

सन् 1941 के अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण को कुछ ही दिनो बाद शिवदान सिह चौहान ने त्याग दिया और अपनी व्यवहारिक आलोचना मे साहित्य की प्रचारात्मकता के कारण ही उसे असाहित्यक ठहराने का प्रयत्न किया। 'कुत्सित समाजशास्त्र' के उदाहरण गिनाते हुए वह लेखते है। 'उदाहरण के लिये रूसो और वॉल्टेयर ने अथवा आधुनिक काल मे ही गोर्की ने फ्रान्स और रूस की क्रातियो के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नो को लेकर जो रचनाये की या आयरलैड की क्रान्ति के अवसर पर शैली ने जो अपीले छाप कर बॉटी उसका आज कोई साहित्यक मूल्य न रहा।[2] इस दृष्टिकोण का विरोध करते हुए डा० राम विलास शर्मा ने व्यगपूर्ण लहजे मे लिखा–

"चौहान के अनुसार ये सब एक समय अवसरवादी कलाकार थे, वे सामयिकता से मुक्त न होकर उसी मे फॅसकर रह गये। चौहान का कुत्सित समाजशास्त्र विरोध ससार के अनेक क्रातिकारी साहित्याकारो की विरासत का विरोध सावित होता है। एक तरफ तो वह गोर्की, शैली और वोल्टेयर की उस क्रातिकारी विरासत को ठुकराते है जो सामयिकता मे डूबी हुई थी और जिसने इतिहास को बदलने मे न मानव समाज को प्रेरण दी।[3] जिस समय बुर्जुवा जनवादी तबको के बीच राष्ट्रीय साहित्य के नाम पर साम्राज्यवाद विरोधी साहित्य को स्वीकृति मिल रही थी, उसी समय एक प्रगतिशील आलोचक का वोल्टेयर शैली और गोर्की के सम्बन्ध मे उपर्युक्त दृष्टिकोण न केवल मार्क्सवाद विरोधी था बल्कि बुर्जुवा जनवादी धारा से भी मेल नही खाता था। समीक्षा के क्षेत्र मे जो बुर्जुवा जनवादी धारा थी, उसके प्रमुख प्रवक्ता उन दिनो नन्ददुलारे बाजपेयी थे साहित्य प्रचार (प्रोपेगैडा) है या नही, इस विषय पर उनका

---

1 साहित्य की समस्यायें– पृ०–54

2 साहित्य की परख–पृ०–14

3 प्रगतिशील साहितय की समस्यायें– पृ०–10

दृष्टिकोण जितना स्पष्ट था, शिवदान सिह चौहान का उतना ही प्रतिगामी। डा० बाजपेयी ने लिखा– 'जिन मानसिक उद्वेलनो और विचारचक्रो का सृजन हमारे युग मे हो रहा है वे ही उत्कृष्ट काव्य मे परिणत होने के अधिक योग्य है। हम यहा यह कह सकेगे कि जिस युग मे जितने ही बलशाली उद्वेलन इस दिशा मे उठेगे, उन उद्वेलनो को लेकर ही महान साहित्यकारो के जन्म लेने की सभावना उस दिशा मे होगी। रूसी और फ्रासीसी क्रातियुगो के साहित्यिक इतिहास से यह कथन परिपुष्ट हो जाता है।[1]'

इसके अतिरिक्त उन्होने हिन्दी के समसामयिक साहित्य के सदर्भ मे भी यही बात कही। यथा– 'वर्तमान काव्य का भविष्य बहुत कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर अवलवित है। यदि देश मे राजनीतिक क्राति सफल हो गयी तो वर्तमान काव्य का बहुत कुछ कायाकल्प हो जायेगा। हिन्दी कविता मे प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा और नवीन कविता वीर गीतो तथा वीर प्रबधो की ओर अग्रसर होगी।[2]'

किन्तु रूसी फ्रासीसी और हिन्दुस्तानी क्रातियो के प्रसग मे साहित्य के कायाकल्प की बात डा० शिवदान सिह चौहान को असाहित्यिक प्रतीत होती है। तीव्रतर होते हुए वर्ग सघर्षों की पहचान या क्रातिकाल मे जन साधारण के सघर्ष से लेखक की सपृक्तता और तज्जन्य यथार्थबोध से साहित्यकारी की रचनाशीलता परिपक्व होती है या नही, उसकी सौन्दर्य वृत्ति तीव्र होती है या नही, उसकी चित्रणक्षमता बढती है या कुठित होती है– ए सब कुछ ऐसी समस्याये थी जिनसे समीक्षक का सीधा सम्बन्ध नही था। परन्तु रचना, परिस्थिति और लेखक के सम्बन्ध मे जानकारी से समीक्षक विश्लेषण के जरिये निष्कर्ष निकाल सकता था। कुछ प्रगतिशील समीक्षक ऐसे भी थे जो समालोचना और रचना दोनो क्षेत्रो मे सक्रिय थे। अत प्रगतिशील समीक्षको ने इस समस्या पर प्रकाश डाला। इस दिशा मे प्रगतिवादी

---

1 आधुनिक सहित्य– पृ०–388

2 वही पृ–65

समालोचना के योगदान का मूल्याकन डा० रामबर सिह ने किया है।

डा० सिह के अनुसार– आलोचना की महत्वपूर्ण समस्या यह बतलाने की नही है कि कौन रचना कितनी सुन्दर है। मौलिक समस्या यह है कि रचना मे वह सौन्दर्य और शक्ति आती कहा से है? जब तक हम इस समस्या का उत्तर नही देते तब तक हम रचनात्मक समीक्षा करते ही नही। इसके बिना समीक्षा निष्क्रिय है। इस प्रश्न के उत्तर मे भाववादी विचारक यह कह कर बरी हो जाते है कि रचना मे सौन्दर्य रचयिता की अपने प्रतिभा से आता है और यह प्रतिभा लेखक की एकदम अपनी चीज है। अथवा ईश्वर प्रदत्त है, अथवा पूर्व जन्म मे पुण्य का फल है या पैतृक उत्तराधिकार है

इस प्रश्न का उत्तर केवल प्रगतिशील समीक्षा दे सकती है। और देती भी है।

उसका कहना है कि लेखक मे शक्ति जनता से आती है, जनता के साथ उसका सबध जितना ही घनिष्ट होता है, उसमे उतनी ही रचना शक्ति आती है। और उसकी रचना मे उतना ही सौन्दर्य बढता है। इसके विपरीत ज्यो ही लेखक अपने उस अक्षय श्रोत से कट जाता है, उसकी सारी शक्ति जबाव दे जाती है। हिरण्यकश्यप की तरह उसकी मृत्यु तभी होती है जब उसका पॉव धरती से उठ जाता है।[1]

प्रगतिशील आलोचना की उक्त विचारधारा का अवलोकन प्रेमचन्द और निराला पर लिखे राम विलास शर्मा जी के ग्रन्थ मे भी किया जा सकता है नागार्जुन, केदारनाथ मुक्तिबोध, त्रिलोचन, आदि पर लिखित परमेश्वर वर्मा के निबन्धो मे यही दृष्टि प्राप्त होती है। इसी प्रकार प्रेमचन्द्र जी पर लिखित हसराज रहबर की समीक्षा पुस्तक मे भी यही प्रणाली सुसगत रूप से देखी जा सकती है। इन समीक्षको ने यह

---

1 नामवर सिह– आधुनिक साहितय की प्रवृत्तियॉ– पृ०–121-122

दिखाने का प्रयास किया है कि किस तरह वास्तविकता के प्रगतिशील पक्षो के उद्घाटन से रचना मे कलात्मक सौन्दर्य आता है। व्यापक अर्थो मे प्रगतिशील समीक्षा की यही वर्गीय अन्तर्वस्तु है, वर्ग सघर्ष, जातीय मुक्ति आन्दोलन, नारी पराधीनता के सामाजिक पहलू और सबसे बडी बात यह है कि यथार्थ के गतिशील पक्षो का अन्तरग उद्घाटन ही प्रगतिवादी यथार्थवाद के प्राणतत्व है। प्रगतिशील आलोचना ने इन्ही प्राणतत्वो के आधार पर साहित्य की विषय वस्तु का विश्लेषण किया है और हम यह भी कह सकते है कि यही तत्व प्रगतिशील आलोचना के नये प्रतिमानो की स्थापना करते है।

उपसंहार

उपसंहार

यद्यपि युग एक अखण्ड सत्य है परन्तु बोध–सुकरता के लिये उसे कतिपय खण्डो–प्रखण्डो मे विभाजित किया जाता है ताकि समसामयिक काल की प्रवृत्तियो, धाराओ का समुचित अध्ययन किया जा सके।

सन् 1936 से प्रगतिवाद का आरम्भ माना जाता है, जो 1950 तक आते–आते काफी परिवर्तित हो गया था। जैसे कि पूर्व अध्यायो मे दिखाया गया है कि प्रगतिवाद को जिन कवियो ने पल्लवित किया उनमे मुख्य थे त्रिलोचन, शिवमगल सिह 'सुमन' रामेश्वर शुक्ल अचल, राङ्गेय–राघव, आदि तथा कथा साहित्य के क्षेत्र मे यशपाल, नागार्जुन, अमृतराय, साकृत्यायन, आदि ने कहानी, उपन्यासो के माध्यम से प्रगतिवाद को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया।

1936 से 1467 का समय पराधीनता का समय था। अत भारतीयो का ध्यान मुख्य रूप से देश की आजादी की ओर था। अन्य क्षेत्रो मे भी रचनाकारो ने कार्य किया पर मूल वस्तु शोषण, दासता, क्राति आदि को लेकर ही रची जा रही थी।

प्रगतिवाद की एक और विशेषता उसका अन्तर्राष्ट्रीयकरण था। जिसके तहत व्यक्ति गाव, समाज, देश की सीमा से उपर उठ कर सपूर्ण विश्व के मानव के कल्याण की भावना से जुड गया। परिणाम स्वरूप, अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावाद का जन्म हुआ, जिससे सपूर्ण विश्व मे खुशी की लहर दौड पडी। मानवता की एकता के साथ मानव की पीडा को भी एक समझा गया। अत एक जाति का दूसरी जाति पर शासन को अस्वीकार कर दिया गया।

प्रारम्भ से प्रगतिवादी साहित्य का अवलोकन करने पर हम पाते है कि इसके प्राय तीन केन्द्र बिन्दु है। प्रथम– वह राष्ट्रीय विचारधारा से ओत–प्रोत साहित्य है, जिसमे भारतीय जनता द्वारा स्वतत्रता प्राप्त के लिये उत्साह और जोश दृष्टिगत होता

है। इस साहित्य धारा ने यथार्थवादी समाजिक स्वर भी दिये और परिणाम स्वरूप प्रगतिवादी काव्य की गौरवशाली परम्परा का प्रारम्भ हुआ।

दूसरा केन्द्र बिन्दु उन रचनाकारो की रचनाओ का है जो मूलत प्रगतिवाद के घेरे मे नही आते और न ही ठेठ मार्क्सवादी है किन्तु उनकी रचनाओ मे युग की मॉग को देखते हुए प्रगतिवादी स्वर सुनाई पडते है। इस प्रकार के कवियो मे– पत व निराला को रखा जा सकता है।

तीसरी अवस्था उन रचनाकारो की है जिन्हे मूल रूप से प्रगतिवादी आन्दोलन की देन कहा जा सकता है और जो पूरी तरह मार्क्सवाद से प्रभावित है, इस श्रेणी मे नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, नरेन्द्र शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री, रागेय राघव, रामविलास शर्मा, शील, रामेश्वर शुक्ल अचल आदि है।

प्रगतिवादी साहितय की सबसे बडी देन, इस प्रश्न का उत्तर है कि साहित्य किसके लिये है? उसका उद्‌देश्य क्या है? प्रगतिवादी इसका उत्तर यो देते है– कि साहित्य जनता के लिये है, उसका लक्ष्य जन–जीवन का उत्थान और प्रगति है। कल्पना व दिव स्वप्नो के स्थान पर काव्य व साहित्य मे एक नयी बौद्धिक चेतना और एक नये यथार्थ की प्रतिष्ठा है। जिसने एक ओर तो जीवन की नाना समस्याओ को तर्क और बुद्धि की कसौटी पर कसकर रखने और ग्रहण करने की प्रेरणा जाग्रत की और उनके जन्म देने वाले कारको को भी उभारा। उसने जर्जरित और व्यक्तिगत विलास की उस बाढ को भी रोका जो साहित्य मे 'बच्चन' और 'अचल' जैसे कवियो के काव्य के माध्यम से हिन्दी के स्वरथ्य सास्कृतिक काव्य को लीलती हुई चली जा रही थी।

जो काव्य अभी तक महान व राजपरिवारो के व्यक्तियो को नायकत्व प्रदान करता आ रहा था, उसने सडक के साधारण मनुष्य को अपना केन्द्र बनाकर उसी की

आशाओ, आकाक्षाओ का चित्रण प्रारम्भ किया। यूगीन राष्ट्रीयता को बल देते हुए अन्तर्राष्ट्रीयता, मानवतावाद सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण किसी भी प्रगतिशील कवि या रचनाकार मे खोजा जा सकता है।

प्रगतिवादी रचनाकारो ने देश की दुर्बल अभावग्रस्त जनता का हृदय विदारक वर्णन किया है। वर्ग सघर्ष को अपनी रचनाओ का मुख्य विषय बनाया है, समाज की मूल समस्याओ का पहली बार मूल कारण प्रगतिवादियो ने ही स्पष्ट किया है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित प्रगतिवादियो ने वर्ग सघर्ष का वैज्ञानिक दृष्टिकोण सामने रख कर प्रत्येक समस्या का जड 'अर्थवैषम्य' को माना।

मानवतावाद की प्रतिष्ठा प्रगतिवाद की एक अन्य देन है। हर वस्तु से ऊपर मानवता है। किसी भी प्रकार का बन्धन मनुष्य के उत्थान मे रूकावट है तो उसे तोडने मे प्रगतिवादी को कोई हिचक नही होती। यही कारण है कि प्रगतिवादी कवियो ने रूढियो, रीतियो, अन्धविश्वासो मे जकडी नि सहाय व निराशा जनता को प्रगति का मार्ग दिखाने के लिये, उनका उन्मूलन कर निर्माणकारी शक्ति से जनता को परिचित कराया। धर्म और ईश्वर के भस से, तथा इहलोक विगड जाने के भय से जो अनभिज्ञ जनता शोषण की चक्की मे पिस रही थी, उसे उस घेरे से मुक्ति दिलाने का प्रयास भी प्रगतिवाद ने ही किया। प्रगतिवाद की एक और देन नवयुग के आगमन की आकाक्षा है। प्रगतिवादी कवियो ने सभी प्राचीन जर्जरित सडी–गली व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन व्यवस्था का सूत्रपात किया। कवियो ने एक ऐसे समाज की कल्पना की जहा मानवता निरतर प्रगति के पथ पर अग्रसित होती हो।

प्रगतिवाद का आधार है मार्क्सवाद और मार्क्स का मूल सिद्धान्त है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग सघर्ष आदि। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स का कला और साहित्य विषयक मान्यताओ का मुख्य आधार है। इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति के क्रिया–कलापो को समझने का मार्क्सवादी दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

कहलाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अन्तर्गत सामाजिक परिवर्तनो एव राजनीतिक क्रातियो का कारण दार्शनिक न हो कर उस युग की आर्थिक परिस्थितियो को माना गया है। वर्ग सघर्ष के अन्तर्गत जब समाज का एक वर्ग बिना श्रम किये हुए दूसरे के श्रम का उपभोग करना चाहता है तो समाज मे सघर्ष उत्पन्न हो जाता है। समाज दो वर्गो मे बट जाता है, एक शोषक वर्ग तथा दूसरा शोषित वर्ग। शोषक वर्ग हमेशा (पैदावार) उत्पादन का अधिक से अधिक भाग अपने पास रखना चाहता है जबकि शोषित अपने जीवन यापन के लिये इसे अपने पास रखना चाहता है, यही सघर्ष का मूल कारण बनता है। अत जिस प्रकार समाजवाद का अर्थ है मनुष्य के जीवन का समाजीकरण उसी प्रकार कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद का अर्थ है साहित्य का समाजीकरण।

समाजीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन समाजशास्त्रीय आलोचना उसी प्रकार करती है जैसे अन्य आलोचना पद्धतियॉ। सामाजिक सास्कृतिक घटना के रूप मे वह साहित्य एव उसकी सरचना का विश्लेषण करने का प्रयास करती है। साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना न तो मार्क्सवादी आलोचना है न ही काव्यशास्त्रीय या मनोविश्लेषणवादी प्रतिबद्धता ही है। वह इन आलोचना पद्धतियो की विरोधी भी नही है अपितु उनसे सहयोग ले कर एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साहित्य से प्राप्त निष्कर्षो को समान्यीकृत करने का प्रयास करती है। समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति एक नवीन अध्ययन विधि है, जो ज्ञान के क्रमिक विकास एव मानव के ज्ञान को समझने के नवीन आधार की खोज का परिणाम मात्र है। समाजशस्त्रीय आलोचना यह उद्घाटन करती है कि मात्र कृति एव उसकी शास्त्रीय विशेषताये ही साहित्य आलोचना को पूर्णता प्रदान नही करती वरन् उसके उत्पादन, उपभोग, वितरण तथा सहभागियो की अन्त क्रियाओ एव प्रतिक्रियाओ को समझे बिना साहित्य–सरथा का विवेचन अपूर्ण सा रह जाता है।

आलोचना सर्वदा समकालीन साहित्य के समानान्तर चलती है वह अपने समय के साहित्य से निर्धारित व विकसित होती है। श्रेष्ठ आलोचना वह हाती हे जा पुरानी कृतियो क मूल्याकन के साथ–साथ समकालीन रचनाओ को उनकी प्रवृत्तियो क घेरे मे पहचनाने, उन्हे अनुकुलित व अनुशासित बनाने का दायितव भी निभाती हो क्योकि साहित्य निर्माण के बाद ही आलोचना का जन्म होता है यही कारण है कि साहित्य के आधार पर ही आलोचना के प्रतिमानो की स्थापना होती है। नये प्रतिमानो की स्थापना के लिये मात्र समसामयिक दृष्टि ही पर्याप्त नही होती वरन् उनके लिये इतिहासबोध और परम्परिक ज्ञान भी अनिवार्य होता है। इसी प्रकार इतिहास बोध व परम्परा भी समकालीनता को बिना अधूरी समझी जाती है। अत परम्परा व समकालीनता के द्वन्द्व के कारण जो तनाव उत्पन्न होता है उससे आलोचना को एक एक उत्तेजक रचनाशीलता प्राप्त होती है, जो सतुलित आधुनिक दृष्टि को जन्म देती है। यही आधुनिक दृष्टि नये प्रतिमानो की स्थापना करती है। प्रगतिशील आलोचना के क्षेत्र मे कुछ नये प्रतिमानो को निम्नलिखित विन्दुओ के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

1 मानवतावाद का समर्थन।

2 व्यक्तिवादी सौन्दर्य दृष्टि एव कलावाद का विरोध

3 परम्परा भजन के स्थान पर परम्परा एव सस्कृति का द्वन्द्वात्मक मूल्याकन करना।

4 समाजवाद के स्थान पर गतिशील यथार्थवाद पर बल देना।

5 भारतीय लेखको को समाजवादी यथार्थवाद तथा आलोचनात्मक यथार्थवाद को एक सीमा तक स्वीकार करना।

6 प्रतिक्रियावादी फलसफे के स्थान पर 'भाव इन्द्रीय बोध' के आधार पर कृति का मूल्याकन करना।

7 सापेक्ष सौन्दर्य दृष्टि ही समाजवादी यथार्थवाद के कलात्मक मानदण्ड का आधार है।

8 किसी विचारधारा के आधार पर कृतित्व का मूल्याकन प्राय नही होना चाहिए।

9 यौन नैतिकता का पक्ष ग्रहण करना तथा यौन उन्मुक्तता का साहित्य मे विरोध करना आदि प्रगतिशील आलोचना के नये प्रतिमान है।

*** *** ***

संदर्भ–ग्रन्थ–सूची

1	प्रगतिवाद–	शिवकुमार मिश्र–प्र०स०–1966–राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।
2	प्रगतिवादी काव्य–	श्री उमेश चन्द्र मिश्र–प्र०स० गथम प्रकाशन, कानपुर।
3	प्रगतिवाद की रूपरेखा–	मनमथनाथ गुप्त– प्र०स०– 1952– आत्माराम एण्ड सन्स नई दिल्ली।
4	प्रगतिशील आलोचना–	रविन्द्रनाथ श्रीवास्तव–प्र०स० 1962– साहित्य भवन, इलाहाबाद
5	प्रगतिवादी काव्य साहित्य–	कृष्ण लाल हस–प्र०स० 1971–मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
6	प्रगतिशील हिन्दी कविता–	डा० दुर्गा प्रसाद झाला–1967–अभिनव प्रकाश।
7	प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड–	रागेय–राघव– प्र०स०– सरस्वती पुस्तक सदन।
8	प्रगतिशील समाजशास्त्रीय सिद्धान्त–	कौशल कुमार राय–प्रथम स० 1968– प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी।
9	प्रगतिशील साहित्य की समस्याये–	डा० रामविलास शर्मा–
10	प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य–	रेखा अवस्थी–प्र०स०–1978 मैकमिलन प्रकाशन नयी दिल्ली।

11 प्रगति और परम्परा— डा० रामविलास शर्मा— प्र०स० 1948—किताब महल इलाहाबाद।

12 प्रगतिवाद— शिवदान सिह चौहान— प्र०स०— 1946— प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद।

13 प्रगतिवादी समीक्षा— राम प्रसाद त्रिवेदी

14 प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य मूल्य— डा० अजय तिवारी—प्र०स०

15 प्रगतिवाद पुनर्मूल्याकन— हस राज रहबर—प्र०स० नवयुग प्रकाशन नयी दिल्ली।

16 काव्य यथार्थ और प्रगति— डा० रागेय राघव—द्वितीय स०—विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।

17 हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा— प्रकाश चन्द्र गुप्त—प्र०स०—1953—किताब महल, इलाहाबाद

18 हिन्दी काव्य मे प्रगतिवाद— विजय शकर मल्ल—प्र०स०—1947— सरस्वती मन्दिर बनारस।

19 साम्यवाद का सदेश— श्री सत्य भक्त—प्र०स० 1934—बनारसी लाल अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय, इलाहाबाद।

20 समाजवाद— अगरनरायण अग्रवाल— प्र०स०— किताब महल, इलाहाबाद।

21 नार्गाजुन—प्रतिनिधि कविताये— सपा० डा० रामवर सिह— तृतीय स०—1988— राजकमल पेपर वर्क्स नई दिल्ली।

22 साहित्य का समाजशास्त्र मान्यता और स्थापना— श्रीराम महरोत्रा— प्र०स० 1970—रचना प्रकाशन वाराणसी।

23 हिन्दी समीक्षा स्वरूप और सदर्भ— राम दरस मिश्र— प्र०स० 1974—मेकमिलन प्रकाशन नयी दिल्ली।

24 साहित्य की समस्याये— शिवदान सिह चौहान— सपा० विष्णुचन्द्र शर्मा—द्वितीय स०—2002—स्वराज प्रकाशन नयी दिल्ली।

25 आलोचना और साहित्य— डा० इन्द्रनाथ मदान—प्र०स०—1964—नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद।

26 साहित्यालोचन— डा० श्याम सुन्दर दास—इण्डियन प्रेस प्रा०लि० इलाहाबाद—1970

27 आधुनिक हिन्दी साहित्य मे आलोचना का विकास— डा० राजकिशोर कक्कड्—1968—एच०चन्द्र एण्ड कम्पनी नयी दिल्ली।

28 हिन्दी साहित्य की परम्परा और आचार्यरामचन्द्र शुक्ल— डा० शिव कुमार मिश्र—प्र०स०—1986—वाणी प्रकाशन नई दिल्ली।

29 हिन्दी आलोचना का विकास— नन्दकिशोर नवल— प्र०स०—1981 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।

30 निराला का गद्य— सूर्य प्रसाद दीक्षित—राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

31 प्रगत समाज शास्त्रीय सिद्धान्त— कौशल कुमार राय—प्र०स० 1968 प्राच्य प्रकाशन वाराणसी।

32	साहित्य समाजशास्त्रीय समीक्षा –	स० बी०डी० गुप्ता–प्र०स० सम्वद् 2046–सीता प्रकाशन हथरस।
33	आधुनिक साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियॉ–	नामवर सिह–1951–किताब महल–दारागज, इलाहाबाद
34	आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियॉ–	डा० नगेन्द्र–प्र०स०–1951–गौतम बुक डिपो।
35	आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियॉ–	डा० जगदीश नरायण त्रिपाठी–प्र०स०
36	आधुनिक साहित्य–	नन्दुलारे वाजपेयी–प्र०स० भारतीय भडार इलाहाबाद।
37	नया हिन्दी काव्य–	डा० शिव कुमार मिश्र–1965 अनुसधान प्रकाशन।
38	मार्क्सवादी साहित्य चितन इतिहास तथा सिद्धान्त–	शिवकुमार मिश्र प्र०स०–1973–म०प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल।
39	मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल–	डा० पारसनाथ मिश्र–प्र०स०–1972–लोक भारतीय प्रकाशन–इलाहाबाद।
40	लेनिन और भारतीय साहित्य–	डा० नगेन्द्र– प्र०स०– 1982– नेशनल पब्लिशिग हाउस।
41	साहित्य का समाजशास्त्र–	डा० नगेन्द्र– प्र०स०–1982– नेशनल पब्लिशिग हाउस।

42 साहित्य का उद्देश्य– मुशी प्रेमचद–1936–जुलाई–नवीन स० हस प्रकाशन इलाहाबाद।

43 हिन्दी काव्य मे मार्क्सवादी चेतना– जनेश्वर वर्मा–प्र०स० 1974–ग्रथम प्रकाशन

44 हिन्दी साहित्य के प्रमुख वाद और उनके प्रवर्तक– विश्वम्भर नाथ उपाध्याय–प्र०स० सवद् 2009–सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।

45 हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन– डा० चन्डी प्रसाद जोश–अनुसधान प्रकाशन–1962

46 हिन्दी साहित्य पर सोवियत क्राति का प्रभाव– डा० पुरूषोत्तम वाजपेयी–प्र०स०–1976

47 हिन्दी की प्रगतिशील कविता– रणजीत– हिन्दी साहित्य ससार दिल्ली–प्र०स०–1971

48 हिन्दुस्तान की कहानी– जवाहर लाल नेहरू– पत्रिका मे प्राप्त।

49 काग्रेस का इतिहास–दूसरा खण्ड– पट्टाभि सीता रमैया–

50 समीक्षा के नये प्रतिमान– डा० अशोक द्विवेदी– प्र०स०– 1996' अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद

51 आलोचना के तीन अध्याय– रमेश चन्द्र तिवारी–

52 इतिहास और आलोचना– डा० नामवर सिह– 1962, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली ।

53 स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य– रामविलास शर्मा– प्र०स०–1956–हिन्दी प्रचार पुस्तकालय बनारस।

54 हिन्दी उपन्यास का इतिहास— गोपाल राय— प्र०स० 2002— राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली।

55 हिन्दी उपन्यास उत्तरशती की उपलब्धियॉ— विवेक राय— प्र०स० 1983—प्रकाशन— अलोपीबाग, इलाहाबाद।

56 हिन्दी आलोचना 20वी शताब्दी— डा० निर्मला जैन प्र०स०—1975— नेशनल पब्लिक हाऊस नयी दिल्ली।

57 साहित्य और दलित चेतना— सपा० महीप सिह और चन्द्रकान्त वाडिवडेकर— प्र०स० 1982—अभिव्यजना प्र० नयी दिल्ली

58 मार्क्स एगेल्स—लेनिन— प्रगति प्रकाशन मास्मो—स० ददन उपाध्याय— तृतीय सस्करण—1986

59 हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास— डा० भागीरथ मिश्र— एन सी आर टी प्र०स०—1978

60 शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना पर पाश्चात् साहित्यिक अवधारणाओ को प्रभाव— डा० सत्येदेव मिश्र— प्र०स० प्रकाशन सस्थान दिल्ली।

61 हिन्दी साहित्य का इतिहास— स० डा० नगेन्द्र— 1985—नेशनल पब्लिशिग हाऊस नयी दिल्ली।

62 हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियॉ— डा० शिवकुमार शर्मा— वारहवॉ सस्करण अशोक प्रका० नयी दिल्ली।

63 हिन्दी साहित्य का इतिहास— डा० रामकिशोर शर्मा—तृतीय सस्क० विद्या प्रकाशन इलाहाबाद

64 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास— डा० बच्चन सिह— सपा० 1997 लोकभारतीय प्र० इलहाबाद।

65 निराला की साहित्य साधना— रामविलास शर्मा— प्रथम सस्क० खण्ड—1 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली

66 परिमल (परिगोष्ठी सक्षिप्त विवरण) प्र०स०—1957 हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद।

67 लेनिन—नारी मुक्ति— प्रगति प्रकाशन मास्को

काव्य रचनायें

1 कुकुरमुत्ता— निराला— लोकभारतीय प्रकाशन इलाहाबाद—1942

2 मानव— भगवती चरण वर्मा— 1940— विशाल भारत बुक डिपो—कलकत्ता

3 अपरा— निराला— दसवॉ सस्क० 1965— साहित्यकार ससद प्रयाग

4 हुॅकार— दिनकर— अजन्ता प्रेस पटना, सप्तम स० 1951

5 अनामिका— निराला— भारतीय भडार प्रयाग—तृतीय स०

6 बेला— निरूपमा प्रकाशन प्रयाग—1962

7 ग्राम्या— पत— भारतीय भडार, प्रयाग— पॉचवा स०

उपन्यास

1	पारो–	नागार्जुन– द्वितीय स० 1978–सभावना प्रकाशन हापुड
2	निमत्रण–	भगवती प्रसाद वाजपेयी– युगारम्भ प्रका०–1936
3	दादा कामरेड–	यशपाल– 1941
4	गोदान–	प्रेमचन्द– सरस्वती प्रेस–1936
5	देशद्रोही–	यशपाल– विप्लय कार्यालय–1936
6	रतीनाथ की चाची–	नागार्जुन– प्र०स०–1948–किताब महल, इलाहाबाद।
7	गिरती दीवारे–	द्वि०स०–1948–निलाभ प्रकाशन इलाहाबाद।
8	दिव्या–	यशपाल–

कहानियाँ

1	पिजरे की उडान–	यशपाल– विप्लव कार्यालय लखनऊ–1936
2	वो दुनियॉ–	यशपाल– विप्लव कार्यालय लखनऊ–1941
3.	तर्क का तुफॉन–	यशपाल– विप्लव कार्यालय द्वितीय स०–1945
4	ये वो बहुतेरे–	अचल– माधो प्रिटिग वर्क्स, इलाहाबाद–1941
5	पूस की रात–	प्रेमचन्द्र

पत्र–पत्रिकायें

1 प्रताप

2 सुधा

3 प्रभा

4 मर्यादा

5 युवक

6 जागरण

7 हस

8 विश्वामित्र

9 विप्लव

10 प्रगति